प्रकाशक -

श्रीगीता-रामायण-पाठशाला

नया शहर, बीकानेर (राजस्थान)

सम्वत् २०३६ (सन् १६८२)

द्वितीय संस्करण १०,०००

मूल्य :- एक रुपया पचीस पैसे

मुद्रक -

राठी प्रिंटिंग प्रेस

पावूबारी रोड, बीकानेर

☎ ४३७०

पुस्तक प्राप्ति स्थान

श्री आनन्द आश्रम
रानी बाजार, बीकानेर

श्री नारायण भण्डार
दाऊजी रोड, बीकानेर

॥ श्री हरि ॥

नम्र निवेदन

प्रस्तुत पुस्तिका में परमपूज्य स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज द्वारा श्रीमुरलीमनोहर धोरा, बीकानेर में प्रात ५ बजे के बाद किये गये कुछ तात्त्विक प्रवचनों का संग्रह किया गया है। ये प्रवचन मनुष्यमात्र के अनुभव पर आधारित हैं। भगवत्प्राप्ति के इच्छुक साधकों के लिये तो ये प्रवचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी हैं। इनमें गूढ़ तात्त्विक बातों को सरल भाषा और रीति से समझाया गया है। कल्याणकांक्षी भाइयों और बहनो-माताओं से निवेदन है कि वे इस पुस्तिका का अध्ययन-मनन करके इससे लाभ लेने की की चेष्टा करें।

विनीत—

प्रकाशक

॥ श्रीहरि ॥

विषय-सूची

श्रीहरि

गीता मे क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के विवेक से मुक्ति

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ।अ. १३-३१॥

हे अर्जुन ! अनादि होनेसे और निर्गुण होनेसे यह अविनाशी परमात्मा शरीरमें स्थित होनेपर भी वास्तवमें न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है ।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिप्त नही होता, वैसे ही देहमें सर्वत्र स्थित आत्मा निर्गुण होनेके कारण देहके गुणोसे लिप्त नही होता ।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

हे अर्जुन ! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको* तथा कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त होनेको जो पुरुष ज्ञाननेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते हैं, वे महात्माजन परम ब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं ।

*क्षेत्रको जड, विकारी, क्षणिक और नाशवान् तथा क्षेत्रज्ञको नित्य, चेतन, अविकारी और अविनाशी जानना ही "उनके भेदको जानना" है ।

सार बात

अब तक मैंने जो कुछ सुना, पढा और समझा है, उसका सार बताता हू । वह सार कोई नयी बात नहीं है, सबके अनुभव की बात है। मनुष्य का स्वभाव है कि वह सदा नयी-नयी बात चाहता है। वास्तव मे नयी बात वही है, जो सदा रहने वाली है। उस बात की ओर आप ध्यान दें। बहुत-ही लाभ की बात है, और बहुत सीधी सरल बात है। उसे धारण कर ले। दृढता से मान लें तो अभी बेडा पार है। अभी चाहे ऐसा अनुभव न हो, पर आगे अनुभव हो जायगा-यह निश्चित है। विद्या समय पाकर पकती है-'विद्या कालेन पच्यते'। अत आप उस सार बात को आज ही मान ले। जैसे, खेती करने वाले जमीन मे बीज बो देते हैं, और कोई पूछे तो कहते हैं-खेती हो गयी। ऐसे ही मैं कहता हू कि उस बात को दृढतापूर्वक मान लें तो कल्याण हो गया! हाँ, जिसको विशेष उत्कण्ठा होगी, उसे तो अभी तत्वका अनुभव हो जायगा, और कम उत्कण्ठा होगी तो अनुभव मे देर लगेगी।

यह जो ससार है, यह प्रतिक्षण नाश की ओर जा रहा है-यह सार बात है। साधारण-सी बात दीखती है, पर बहुत बडी सार बात है। यह देखने, सुनने, समझने मे आने वाला ससार एक क्षण भी टिकता नही, निरन्तर जा रहा है जितने भी जीवित प्राणी हैं, सब-के-सब मृत्यु मे जा रहे है। सारा ससार प्रलय मे जा रहा है। सब कुछ नष्ट हो रहा है। जो दृश्य हैं, वह अदृश्य हो रहा है। दर्शन अदर्शन मे जा रहा है। भाव अभाव मे परिणत हो रहा है। यह सार बात है। यह सबके अनुभव की बात है। इनमे किसी को

किञ्चिन्मात्र भी शका, सन्देह नही है। अभी 'है'—रूप से जो कुछ दीखता है, वह सब 'नहीं' मे जाने वाला है, शरीर, धन, जमीन, मकान, कुटम्ब, मान, बडाई, प्रतिष्ठा, पद, अधिकार, योग्यता, आदि सब-के-सब 'नहीं' अर्थात् अभाव मे जा रहे हैं। यह बात ध्यानपूर्वक सुन लें, समझ लें और मान लें। बिलकुल सच्ची बात है। ससार को 'है' अर्थात् रहने वाला मानना ही भूल है।

स्मृति (याद) दो प्रकार की होती है—क्रियात्मक, जैसे नाम जप करना आदि, और (२) ज्ञानात्मक-स्मृति निरन्तर रहती है। जान लिया, तो बस, जान ही लिया। जानने के बाद फिर विस्मृति, भूल नही होती। क्रियात्मक-स्मृति मे जब क्रिया नहीं होती, तब भूल होती है। ज्ञानात्मक-स्मृति की भूल दूसरे प्रकार की है। जैसे एक व्यक्ति अपने-आप को ब्राह्मण मानता है। वह दिनभर मे एक बार भी याद नही करता कि मैं ब्राह्मण हू। काम न पडे तो महीने भर भी याद नही करता। परन्तु याद न करने पर भी भीतर मे 'मैं ब्राह्मण हू' यह ज्ञानात्मक याद निरन्तर रहती है। उससे कभी कोई पूछे तो वह अपने को ब्राह्मण ही बतलायेगा। इस याद की भूल तभी मानी जायगी, जब वह अपने को गलती से वैश्य, क्षत्रिय या हरिजन मान ले। इसी तरह यदि ससार को रहनेवाला, सच्चा मान लिया, तो यह भूल है। अच्छी तरह मान लें कि ससार निरन्तर नाश मे जा रहा है। फिर चाहे यह बात रहे या नही। मानी हुई बात को याद नहीं करना पडता। मानी हुई बात की ज्ञानात्मक स्मृति रहती है। बहनें-माताए मानती हैं कि 'मैं स्त्री हूं' तो इसे याद नही करना पडता। भाई लोग मानते हैं कि 'मैं पुरुष हूं' तो इसे याद नही करना पडता। ऐसे ही साधु को 'मैं साधु हू' ऐसे याद नहीं करना पडता, कोई माला नही फेरनी

पडती। मान लिया, तो बस, मान ही लिया। विवाह होने के बाद व्यक्ति को सोचना नही पडता कि विवाह हुआ या नही। इसी तरह आप आज ही विशेषता से विचार कर ले कि ससार प्रतिक्षण जा रहा है। यह अभी जिस रूप मे है, उस रूप मे यह सदा रह सकता ही नहीं।

दूसरी बात, जो ससार 'नहीं' है, वह 'है' के द्वारा ही दीख रहा है। जैसे, एक व्यक्ति बैठा है और उसके सामने से होकर २०-२५ व्यक्ति चले गये। पूछने पर वह कहता है कि २०-२५ आदमी यहाँ से होकर चले गये। यदि वह व्यक्ति भी उनके साथ चला जाता, तो कौन समाचार देता कि इतने व्यक्ति यहा से होकर गये हैं ? पर वह व्यक्ति गया नही, वही रहा है, तभी वह २०-२५ व्यक्तियो के जाने की बात कह सका है। रहे बिना गये की सूचना कौन दगा ? इसी प्रकार परमात्मा रहने वाला है और ससार जाने वाला है। यदि आप यह बात मान लें कि ससार जा रहा है, तो आपकी स्थिति स्वाभाविक ही सदा रहने वाले परमात्मा मे होगी, करनी नही पडगी। जहा ससार को रहनेवाला माना कि परमात्मा को भूले। ससार को प्रतिक्षण जाता हुआ मान लेने से परमात्मा की याद न आने पर भी आपकी स्थिति वस्तुत परमात्मा मे ही है।

ससार जा रहा है—यह बहुत श्रेष्ठ और मूल्यवान् बात है, सिद्धान्त की बात है, वेदो और वेदान्त की बात है, महापुरुषो की बात है, परमात्मा रहने वाले हैं और समार जाने वाला है। वह परमात्मा 'है' रूप से सर्वत्र परिपूर्ण है। सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि-ये युग बदलते हैं, पर परमात्मा कभी नही बदलते। वे सदा ज्यो-के-त्यो रहते है। दो ही खास बातें है कि ससार नहीं है और परमात्मा हैं, ससार जानेवाला है और परमात्मा रहने वाले हैं।

यदि आपने इन बातो को मान लिया, तो मानो बहुत बडा काय कर लिया, आपका जीवन सफल हो गया। फिर तत्वज्ञान, भगवत्प्राप्ति, मुक्ति आदि सब इसी से हो जायगी।

ससार निरन्तर जा रहा है, ऐसा देखते देखते एक स्थिति ऐसी आयेगी कि अपने लिए ससार का अभाव हो जाएगा। एक परमात्मा ही है और ससार नही है—ऐसा अनुभव हो जाएगा। सतो ने कहा है-यह नहिं यह नहिं यह नहिं होई,ताके परे अगम है सोई। यही सार बात है। इसे हृदय मे बैठा लें। सबके अनुभव की बात है कि अवस्था, परिस्थिति, घटना, क्रिया, पदार्थ, साथी आदि अब कहाँ हैं? जैसे वे चले गये, वैसे अभी की अवस्था, परिस्थिति, पदार्थ आदि भी चले जायेगे। ये तो निरन्तर जा ही रहे हैं। ससार की तो सदा से ही जाने की रीति चली आ रही है—

कोई आज गया, कोई काल गया, कोई जावनहार तैयार खड़ा।
नहीं कायम कोई मुक़ाम यहाँ, चिरकाल से यही रिवाज रहा॥

आरम्भ से ही यह रिवाज चली आ रही है कि ससार एक क्षण भी रुकता नही। यह सबका अनुभव है। इस अनुभव का आदर नहीं करते, यही गलती है। इसीसे बारबार जन्म-मरण होता है। अब आज ही दृढतापूर्वक मान लें कि ससार मात्र प्रतिक्षण जा रहा है। यही सार बात है। ●

प्रवचन :
१-८-८१

(२)

मुक्ति सहज है

एक बहुत ही बढिया, श्रेष्ठ बात है। इस ओर आप ध्यान द तो विशेष लाभ होगा। बात यह है कि हम भगवत्प्राप्ति, जीवन्मुक्ति, तत्त्वज्ञान, परमप्रेम, कल्याण, उद्धार आदि जो कुछ (ऊँची-से-ऊँची बात) चाहते हैं, उसकी प्राप्ति स्वत सिद्ध है। यह बहुत ही मूल्यवान् बात है। इसे आप मान ले। इसे समझाने मे मैं अपने को असमथ समझता हू। लोगो की धारणा है कि मानने से क्या होता है? केवल मान लेने से क्या लाभ होगा? इसलिए मेरी बात को सुनकर टाल देते हैं। समझा मैं सकता नही। लाचारी है, क्या करें?

अब आप ध्यान दे। गीता मे भगवान् ने कहा है–'प्रकृति पुरुष चैव विद्ध्यनादी उभावपि' (१३/१९)। 'प्रकृति और पुरुष दोनो को ही तू अनादि जान'। और 'क्षेत्रज्ञ चापि मा विद्धि सर्व-क्षेत्रेषु भारत (१३/२),। हे अर्जुन! तू सब क्षेत्रो मे क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मुझे ही जान।' अभिप्राय यह है कि प्रकृति और पुरुष दोनो भिन्न-भिन्न हैं—ऐसा मान लें। आप पुरुष हैं और प्रकृति आपसे भिन्न है। तात्पर्य यह निकला कि आप जिससे अलग अर्थात् मुक्त होना चाहते हैं, उस प्रकृति से आप स्वत मुक्त हैं। केवल आपने अपनी इच्छा से प्रकृति को पकड रखा है, उसे स्वीकार कर रखा है। कारण कि आप प्रकृति से सुख चाहते हैं, जो एक भूल है। प्रकृति को पकडने से ही दु ख और बन्धन हुआ है। इसे छोड दे तो आप ज्यो-के-त्यो (जीवन्मुक्त) ही हैं।

आप निरन्तर रहने वाले हैं और प्रकृति निरन्तर बदलने वाली है। वह आपसे स्वाभाविक अलग है। प्रकृति ने आपको नहीं पकडा है अपितु आपने ही प्रकृति को पकडा है और मैं-मेरे की मान्यता की है। मैं-मेरे की मान्यता करना ही भूल है। यह जो इन्द्रियो-सहित शरीर है, यह 'मैं' नही है और जो ससार है, वह 'मेरा' नही है। इस बात को मान लेना है, और कुछ नही करना है। कारण कि वस्तुत बात ऐसी ही है। आप निरन्तर रहने वाले और ससार निरन्तर जाने वाला है–इस ओर केवल दृष्टि करनी है, और कुछ नही करना है। यह करना-कराना सब प्रकृति ससार के राज्य मे है। जिस क्षण यह विचार हुआ कि हम ससार से अलग हैं, उसी क्षण मुक्ति है।

ससार से सम्बन्ध मानने मे खास बात है–उससे सुख लेने की इच्छा। यह सुख लेने की इच्छा ही सम्पूर्ण दु खो, पापो, अनर्थो दुराचारो, अन्यायो आदि की जड है। जब तक सासारिक पदार्थो के सग्रह और सुख भोग की इच्छा रहेगी, तब तक चाहे कितनी ही बातें सुन लो, पढ लो, सीख लो और चाहे त्रिलोक का राज्य प्राप्त कर लो, फिर भी दु ख मिटेगा नही—यह पक्की बात है। सग्रह और सुख-भोग की वृत्ति चेष्टा करने से नही मिटेगी। यहाँ चेष्टा की बात ही नहीं है। आपने मैं-मेरे की मान्यता की हुई है। मानी हुई बात न मानने से ही मिटती है, चेष्टा से नही। विवाह होने पर स्त्री पुरुष को अपना पति मान लेती है, तो इसमे (पति मानने मे) कौन-सी चेष्टा करनी पडती है ? बस, केवल मानना होता है। किसी से सम्बन्ध जोडने मे और सम्बन्ध तोडने मे सब स्वतन्त्र है। वास्तव मे हमारा सम्बन्ध केवल परमात्मा से है। भूल से हमने प्रकृति से सम्बन्ध जोड लिया। अब उस माने हुए सम्बन्ध को तोड

लेना है-बस, यही काम है। परमात्मा से हमारा सम्बन्ध स्वाभाविक और सच्चा है, और प्रकृति से हमारा सम्बन्ध अस्वाभाविक और बनावटी है। अस्वाभाविक और बनावटी सम्बन्ध को तोड देना है। वह टूटेगा प्रकृति से अपना सम्बन्ध न मानने से। पहले अपने को बालक मानते थे, पर क्या अब अपने को बालक मानते हैं ? तो जैसे बालकपन के साथ आपने मान्यता की थी, वैसी ही अब जवानी के साथ मान्यता कर ली कि 'मैं जवान हू'। ऐसे ही 'मैं रोगी हू', 'मैं नीरोग हू' आदि मान्यताएँ कर ली। वृद्धावस्था के साथ मान्यता कर ली और फिर मृत्यु के साथ मान्यता कर ली। विचार करें कि मान्यता करने के सिवा आपने और कौन सी चेष्टा की ? जैसे आपने पहले अपने को बालक माना, वैसे ही अब अपने को बालक न मानकर जवान मान लिया। तो केवल मान्यता-ही मान्यता है। न कोई चेष्टा है, न कोई विचार। इतनी सुगम बात ससार मे है ही नही। केवल सयोगजन्य सुख की इच्छा के ही कारण कठिनाई हो रही है। वह सयोगजन्य सुख भी ऐसा है कि जिससे परिणाम मे दु ख-ही-दु ख मिलता है। सुख की लालसा से महान् अनर्थ होगा ही। इसे टालने की ताकत ब्रह्माजी मे भी नही है। रुपये मिल जायें तो सुखी हो जाऊगा, पदार्थ मिल जायें तो सुखी हो जाऊगा-यही सारी बात अटकी हुई है। आज तक इन पदार्थों से किसी को पूर्ण सुख नही मिला। मिल सकता ही नही। बालकपन से ही सुख लेने के पीछे पडे हैं। अब तक कितना सुख ले लिया, बताओ ? धन भी इकट्ठा किया है, विषय भोग भी भोगे हैं, थोडी-बहुत मान-बडाई भी मिली है—इस प्रकार ससार का थोडा नमूना आप-हम सभी ने देखा ही है। पर बताओ कि क्या इनसे अभी तक तृप्ति हुई है ? क्या इनसे पूर्ण सुख मिला है ? यदि नही मिला तो फिर इनके पीछे

क्यों पड़े हो ? क्या कोई वहम बाकी रह गया है ? बाकी यही रह है कि बढ़िया दुःख मिलेगा। सिवाय दुःख के और कुछ नह मिलेगा। यह कोई मामूली, खेल-तमाशे की बात नहीं है। सयो गजन्य सुख लेने से परिणाम में दुःख होना ही है। सच्चा सुख, आनन्द, बाहर से नहीं आता अपितु भीतर से निकलता है। सच्चे सुख का अन्त नहीं आता। एक बार मिलनेपर फिर कभी बिछुड़ता नहीं। पर जब तक बाहर का सुख लोगे, उसकी इच्छा करोगे, उसे महत्त्व दोगे, तब तक भीतर का सुख मिलेगा नहीं। संयोगजन्य सुख की इच्छा को दूर करने का उपाय है 'दूसरों को सुख कैसे मिले' ऐसी जोरदार इच्छा। भीतर में व्याकुलता उत्पन्न हो जाय कि दूसरों का दुःख कैसे मिटे ? मैं करने पर जोर नहीं देता हूँ अपितु भाव बनाने पर जोर देता हूँ। भाव से झट काम होता है। भाव हो, तो करना स्वतः हो जायगा। सम्पूर्ण प्राणियों के सुख का भाव होने पर अपने सुख की लालसा सुगमतापूर्वक मिट जायगी, और अपने सुख की लालसा मिटने पर प्राप्त वस्तु (मुक्ति, प्रेम आदि) का अनुभव सुगमतापूर्वक हो जायगा। ॐ

प्रवचन :
३-८-८१

(३)

वास्तविक बड़प्पन

एक परमात्मा ही सत्य हैं, शेष सब असत्य हैं। असत्य का अर्थ है—जिसका अभाव हो। जो वस्तु नहीं है, वह असत्य कहलाती है। जिस वस्तु का अभाव होता है, वह दिखायी नहीं देती, पर संसार दिखायी देता है। फिर संसार असत्य कैसे ?

वास्तव मे असत्य होते हुए भी यह ससार सत्य-तत्त्व परमात्मा के कारण ही सत्य प्रतीत होता है। तात्पर्य यह कि इस ससार की स्वतत्र सत्ता नही है। जैसे दर्पण मे मुख दीखता है, वैसे ही ससार दीखता है। दर्पण मे मुख दीखता तो है, पर वहा है नही, ऐसे ही ससार दीखता तो है, पर वास्तव मे है नही। वास्तव मे एक परमात्मतत्त्व की ही सत्ता है। परमात्मा अपरिवर्तनशील हैं और प्रकृति (ससार) निरन्तर परिवर्तनशील है। जिसमे निरन्तर परिवतनरूप क्रिया होती रहती है उसका नाम प्रकृति है-'प्रकर्षेण करण प्रकृति'। ससार तथा उसका अश शरीर निरन्तर बदलने-वाले है, और परमात्मा तथा उसका अश जीव कभी नही बदलनेवाले हैं। न बदलने वाला जीव बदलने वाले ससार का आश्रय लेता है, उससे सुख चाहता है-यही गलती है। निरन्तर बदलनेवाला क्या न बदलनेवाले को निहालकर देगा ? उसका साथ भी कब तक रहेगा ? अत ससार को अपना मानना, उससे लाभ उठाने की इच्छा रखना, उस पर भरोसा रखना, उसका आश्रय लेना-यही गलती है। इस गलती का ही हमे सुधार करना है। इसीलिये गीता मे भगवान् ने कहा—'मामेक शरण व्रज' 'एक मेरी शरण मे आ'। हाँ, सासारिक वस्तुओ का सदुपयोग तो करो, पर उन्हे महत्त्व मत दो, सासारिक वस्तुओ के कारण अपने को बडा मत मानो।

पास मे अधिक धन होने पर मनुष्य अपने को बडा मान लेता है। पर वास्तव मे वह बडा नही होता, अपितु छोटा ही होता है। ध्यान दें, धन के कारण मनुष्य बडा हुआ, तो वास्तव में वह स्वय (धन के बिना) छोटा ही सिद्ध हुआ ! धन का अभिमानी व्यक्ति अपना तिरस्कार व अपमान करके तथा अपने को छोटा करके ही अपने मे बडप्पन का अभिमान करता है। वास्तव मे आप

स्वयं निरन्तर रहने वाले हैं और धन, मान, बड़ाई, प्रशंसा, नीरोगता, पद, अधिकार आदि सब आने-जाने वाले हैं। इनसे आप बड़े कैसे हुए? इनके कारण अपने में बड़प्पन का अभिमान करना अपना पतन ही करना है। इसी प्रकार निर्धनता, निन्दा, रोग आदि के कारण अपने को छोटा मानना भी भूल है। आने-जाने वाली वस्तुओं से कोई छोटा या बड़ा नहीं होता।

नाशवान् पदार्थों को महत्त्व देने के कारण ही जन्म-मरण रूप बन्धन, दुःख, सन्ताप, जलन आदि सब उत्पन्न होते हैं। अतः भली-भाँति विचार करना चाहिये कि मैं तो निरन्तर रहने वाला हूँ और ये पदार्थ आने-जाने वाले हैं, अतः इन पदार्थों के आने-जाने का असर मुझ पर कैसे पड़ सकता है?

आप धन को पैदा करते हैं, न कि धन आपको। आप धन का उपयोग करते हैं, न कि धन आपका। धन आपके अधीन है, आप धन के अधीन नहीं। आप धन के मालिक हो, धन आपका मालिक नहीं। ये बातें सदा याद रखें। आप धनपति बनें, धनदास नहीं—इतनी ही बात है। धन को महत्त्व देने से और धन के कारण अपने को बड़ा मानने से मनुष्य धनदास (धन का गुलाम) बन जाता है। इसीसे वह दुःख पाता है। अन्यथा आपको दुःख देने वाला है ही कौन? धनादि पदार्थ तो आने जाने वाले हैं, वे आपको क्या सुखी और दुःखी करेंगे? वे तो नदी के प्रवाह की भाँति निरन्तर बहे जा रहे हैं। यदि आपकी धनवत्ता ४० वर्ष रहने वाली है, और उसमें से एक वर्ष बीत गया, तो बताओ आपकी धनवत्ता बढ़ी या घटी? धनवत्ता तो निरन्तर घटती चली जा रही है और ४० वर्ष पूरे होते ही वह समाप्त हो जायगी। पर आप वैसे-के-वैसे ही रहते हैं। जब धन नहीं था, तब भी आप वही थे, और

जब धन मिल गया, तब भी आप वही रहे, तथा धन चला जाय, तब भी आप वही रहेगे। ससार की वस्तुमात्र निरन्तर बही जा रही है। जिस मनुष्य पर इन वहने वाली वस्तुओ का असर नही पडता, वह मुक्त हो जाता है (गीता २/१५)। इसलिये विवेकी पुरुप नाशवान् वस्तुओ मे रमण नही करता-'न तेपु रमते बुध ' (गीता ५/२२)। जो वस्तुओ को अस्थिर मानता है, वह वस्तुओ का गुलाम नही बनता। पदार्थों को लेकर सुखी या दु खी होने वाला मनुष्य अपनी स्थिति से नीचे गिर ही गया, छोटा हो ही गया। आने-जाने वाले पदार्थों का असर न पडना ही वास्तविक बडप्पन है।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ।। (गीता ५/२०)

'जो पुरुप प्रिय को प्राप्त होकर हर्पित नही होता और अप्रिय को प्राप्त होकर उद्विग्न नही होता, वह स्थिरबुद्धि सशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुप परब्रह्म परमात्मा मे एकीभाव से नित्य स्थित है।

ॐ

प्रवचन ·
४-८-८१

(४)

संयोग मे वियोग का दर्शन

ससार मे सयोग और वियोग-दो चीजें है। जैसे आप और हम मिले तो यह सयोग हुआ, तथा आप और हम अलग हुए तो यह वियोग हुआ। तो ये जो सयोग और वियोग हैं, इन दोनो मे वियोग प्रबल है। तात्पर्य यह कि सयोग होगा कि नही होगा-

इसका तो पता नही, पर वियोग होगा-यह पक्की बात है। जिसका वियोग हो जाय, उसका फिर सयोग होगा यह निश्चित नहीं, पर जिसका सयोग हुआ है उसका वियोग होगा यह निश्चित है। इससे यह सिद्ध होता है कि जितने भी सयोग हैं, सब वियोग मे जा रहे हैं। प्रत्येक सयोग का वियोग हो रहा है। यह सबके अनुभव की बात है। अब इसमे बुद्धिमानी की बात यह है कि जिसका वियोग अवश्यम्भावी है, उसके वियोग को हम अभी, वर्तमान मे ही मान लें। फिर मुक्ति,तत्त्वज्ञान,बोध अपने-आप हो जायगा। कितनी सरल बात है।

शरीर इन्द्रियाँ, मन,बुद्धि, प्राण, 'मैं'-पन-सबका एक दिन वियोग हो जायगा। आप इनके वियोग का अनुभव वर्तमान मे ही कर लें। प्रत्येक सयोग वियोग मे बदल जाता है, इसलिए वास्तव मे वियोग ही है, सयोग है ही नही। सयोगरूपी लकडी निरन्तर वियोगरूपी आग मे जल रही है।

जीव का वास्तविक सम्बन्ध परमात्मा के साथ है, जिसे 'योग' कहते है। इसका कभी वियोग नहीं होता। वस्तुत परमात्मा से जीव का वियोग कभी हुआ ही नही। जीव केवल परमात्मा से विमुख हो जाता है। मनुष्य का ससार से सयोग होता है, योग नहीं होता। सयोग का तो वियोग हो जाता है, पर योग सदा रहता है। यहाँ हम दो महीने के लिए आये हैं। अब १५-२० दिन गुजर गये, तो क्या अब भी दो महीने हैं? ये १५-२० दिन वियुक्त हो गए, हम इनसे अलग हो गए, और अलग हो ही रहे हैं। एक दिन पूरा वियोग हो जायगा। ऐसे मात्र पदार्थ, परिस्थिति, अवस्था आदि का हमसे वियोग हो रहा है। कोई नया सयोग होगा, तो वह भी वियोग मे जायगा। इसमे क्या सन्देह है, बताओ? तो इस वियोग को ही हम महत्त्व दें, इसे ही सच्चा मानें। फिर परमात्मा मे स्वत

हमारी स्थिति हो जायगी । कारण कि सच्चाई से ही सच्चाई मे स्थिति होती है । परमात्मा मे स्थिति का ही नाम है—मुक्ति ।

जो अवश्यम्भावी है अर्थात् जिसका होना निश्चित है, उस वियोग को पहले ही स्वीकार कर लें, तो फिर अन्त मे रोना नही पडेगा—

अंतहुँ तोहिं तजैंगे पामर ! तू न तजै अबही ते ॥
मन पछितैहै अवसर बीते । (विनय पत्रिका १९८)

वर्तमान मे ही वियोग को स्वीकार कर लेना ही 'योग' है 'त विद्याद्दु खसयोगवियोग योगसज्ञितम् ।' (गीता ६/२३) 'दु खरूप ससार के सयोग के वियोग का नाम योग है'। सयोग मे विषमता रहती है। सयोग के बिना विषमता नही होती । सयोग का त्याग करने से विषमता मिट जाती है और योग प्राप्त हो जाता है—'समत्व योग उच्यते' (गीता २/४८) । फिर न कोई दु ख रहता है, न सन्ताप रहता है, न जलन या हलचल ही रहती है ।

जब तक सयोग है, तब तक प्रेम से रहो, दूसरो की सेवा करो—'सबसे हिलमिल चालिये, नदी नाव सजोग ।।' जितनी बन सके, सेवा कर दो, बदले मे किसी वस्तु की आशा मत रखो । जिनसे वियोग ही होगा, उसकी आशा रखे ही क्यो ? माता, पिता, स्त्री, पुत्र, बन्धु आदि जितने भी हैं, उन सबसे एक दिन वियोग होगा । उनसे अच्छे-से-अच्छा व्यवहार कर दे । मन की यह गलत भावना निकाल दे कि वे बने रहेगे । जो मिला हुआ है, वह सब जा रहा है, फिर और मिलने की आशा क्यो रखे ? और मिलेगा कि नही मिलेगा—इसका पूरा पता नही, पर मिल जाय तो रहेगा

नही-इसका पूरा पता है। फिर उसके मिलने की इच्छा करके व्यथ अपनी वेइज्जती क्यो करें ?

राग-द्वेप, हर्ष-शोक आदि भी रहते नही अपितु जा ही रहे हैं। ये सब विनाशी हैं और जीव अविनाशी है-'ईस्वर अ स जीव अविनासी'। विनाशी का सग छोडना मुक्ति है और अविनाशी मे स्थित होना भक्ति है। विनाशी का वियोग हो ही रहा है। इस वियोग को अभी ही स्वीकार कर लें। फिर मुक्ति और भक्ति—दोनो स्वत सिद्ध हैं।

प्रवचन :
७-८-८१ (५)

मुक्ति का रहस्य

हम सबके अनुभव की बात है कि जब गाढ नींद आती है, तब कुछ भी याद नहीं रहता। रुपये, पदार्थ, कुटुम्ब, जमीन, मकान आदि कुछ भी याद नही रहता। ऐसी स्थिति मे हमें कोई दु ख होता है क्या ? गाढ नींद मे किसी भी प्राणी-पदार्थ का सम्बन्ध न रहने पर भी हमे दु ख नही होता, अपितु सुख ही होता है। इससे सिद्ध हुआ कि ससार के सबध से सुख नही होता अभी आप सोचते हैं कि हमे धन मिल जाय, ऊचा पद मिल जाय, मान-बडाई मिल जाय, भोग मिल जाय, आराम मिल जाय, तो हम सुखी हो जाएँगे। विचार करें कि जब गाढ निद्रा में किसी भी प्राणी-पदार्थ से सम्बन्ध न रहने पर भी दु ख नही होता, और सुख होता है तब इन वस्तुओ की प्राप्ति से सुख मिल जायगा क्या ? इस बात पर गहरा विचार करें।

जाग्रत् की वस्तु स्वप्न मे और स्वप्न की वस्तु सुषुप्ति मे नही रहती। तात्पर्य यह कि जाग्रत् और स्वप्न की वस्तुओ के बिना भी हम रहते हैं। इससे सिद्ध यह हुआ कि वस्तुओ के बिना भी हम सुखपूर्वक रह सकते हैं अर्थात् हमारा रहना वस्तु, अवस्था आदि के आश्रित नही है। इसलिए वस्तु, पदार्थ, व्यक्ति आदि के द्वारा हम सुखी होगे और इनके बिना हम दुखी होगे – यह बात गलत सिद्ध हो गयी।

जाग्रत् मे भी अनेक पदार्थो के बिना हम रहते है, पर सुषुप्ति मे तो सम्पूर्ण पदार्थों के बिना हम रहते हैं और उससे हमे शक्ति मिलती है। अच्छी गहरी नीद आने पर स्वास्थ्य अच्छा होता है और जगने पर व्यवहार अच्छा होता है। नीद के बिना मनुष्य का जीना कठिन है। नीद लिए बिना उसे चैन नही पडता। इससे सिद्ध यह हुआ कि सम्पूर्ण वस्तुओ के अभाव के बिना हम रह नही सकते। वस्तुओ का अभाव बहुत आवश्यक है। अत अनुभव के आधार पर हमारी यह मान्यता गलत सिद्ध हो गयी कि धन, सम्पत्ति, कुटुम्ब आदि के मिलने से ही हम सुखी होगे, और इनके बिना रह नही सकेगे।

सुषुप्ति मे वस्तुओ के बिना भी हम जीते हैं। जीते ही नही, सुखी भी होते हैं और शरीर, इन्द्रियो, मन, बुद्धि सबमे ताजगी भी आती है। जाग्रत् मे, जब वस्तुओ से सम्बन्ध रहता है, तब हमारी शक्ति क्षीण होती है और नीद मे वस्तुओ का सम्बन्ध न रहने से शक्ति सचित होती है। वस्तुओ के सम्बन्ध-विच्छेद के बिना और नीद मे क्या होता है ? यदि जाग्रत् अवस्था मे ही हम वस्तुओ से अलग हो जायें, उनसे अपना सम्बन्ध न माने, उनका आश्रय न लें, तो जीवन्मुक्त हो जायें। नीद मे तो बेहोशी (अज्ञान)

रहती है, इसलिए उससे जीवन्मुक्त नही होते । सम्पूर्ण वस्तुओ से सम्बन्ध-विच्छेद होना ही मुक्ति है । मुक्ति मे जो आनन्द है, वह बन्धन मे नही है । मुक्ति मे आनन्द होता है—वस्तुओ से सम्ब ध छूटने से । नीद मे जब वस्तुओ को भूलने से भी सुख-शान्ति मिलती है, तब जानकर उनका सम्बन्ध-विच्छेद करने से कितनी सुख शाति मिलेगी !

शरीर और ससार एक हैं । ये एक-दूसरे से अलग नही हो सकते । शरीर को ससार की और ससार को शरीर की आवश्यकता है । पर हम स्वय (आत्मा) शरीर से अलग हैं और शरीर के बिना भी रहते ही हैं । शरीर उत्पन्न होने से पहले भी हम थे और शरीर नष्ट होने के बाद भी रहेंगे—इस बात का पता न हो, तो भी यह तो जानते ही है कि गाढ निद्रा मे जब शरीर की याद तक नहीं रहती, तब भी हम रहते हैं, और सुखी रहते हैं । शरीर से सम्बन्ध न रहने से शरीर स्वस्थ होता है । ससार से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर आप भी ठीक रहोगे और ससार भी ठीक रहेगा। दोनो की आफत मिट जायगी । शरीरादि पदार्थों की गरज और गुलामी मन से मिटा दें, तो महान् आनन्द है । इसी का नाम जीवन्मुक्ति है । शरीर, कुटुम्ब, धन आदि को रखो, पर इनकी गुलामी मत रखो । जड वस्तुओ की गुलामी करने वाला जड से भी नीचे हो जाता है, फिर हम तो चेतन हैं । जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति-तीनो अवस्थाओ से हम अलग हैं । ये अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, पर हम नही बदलते । हम इन अवस्थाओ को जानने वाले हैं और अवस्थाएँ जानने मे आनेवाली हैं । अत हम इनसे अलग हैं । जैसे, छप्पर को हम जानते हैं कि यह छप्पर है, तो हम छप्पर से अलग हैं-यह सिद्ध होता है । अत हम वस्तु, परिस्थिति, अवस्था आदि से अलग हैं—इसका अनुभव होना ही मुक्ति है ।

प्रवचन :

८-८-८१ (६)

जाग्रत् में सुषुप्ति

एक बहुत सुगम बात है। उसे विचारपूर्वक गहरी रीति से समझ लें, तो तत्काल तत्त्व मे स्थित हो जाये। जैसे राजा का राज्यभर से सम्बन्ध होता है, वैसे ही परमात्मतत्त्व का मात्र वस्तु व्यक्ति, क्रिया आदि के साथ सम्बन्ध है। राजा का सबध तो मान्यता से है, पर परमात्मा का सबध वास्तविक है। हम परमात्मा को भले ही भूल जायें, पर उसका सबध कभी नही छूटता। आप चाहे युग-युगान्तर तक भूले रहे, तो भी उसका सबध सबसे एक समान है। आपकी स्थिति जाग्रत्, स्वप्न या सुषुप्ति किसी अवस्था मे हो, आप योग्य हो या अयोग्य, विद्वान हो या अनपढ, धनी हो या निर्धन, परमात्मा का सबध सब स्थितियो मे एक समान है। इसे समझने के लिये युक्ति बताता हूँ। आप मानते हैं कि मैं बालकपन, मे था, अभी मैं हूँ और आगे वृद्धावस्था मे भी मैं रहूँगा। बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था—तीनो का भेद होने से 'था', 'हूँ' और 'रहूँगा' ये तीन भेद हुए, पर अपने होनेपन मे क्या फर्क पडा ? भूत, वर्तमान और भविष्य-तीनो मे अपना होनापन (सत्ता) तो एक ही रहा। अत आप कैसे भी हो, कैसे भी रहें, आपकी सत्ता एक समान अखण्ड रहती है। आपका कभी अभाव नही होता। वह सत्ता ही शरीर, इन्द्रिया, मन, बुद्धि आदि को सत्ता-स्फूर्ति देती है। वह शरीरादि के आश्रित नही है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आप हरदम 'है' मे स्थित रहते है। जड वस्तु, क्रिया आदि का

संबंध न रखकर 'है' से संबंध रखना है। यही जाग्रत् में सुषुप्ति है।

वह सत्ता मन, बुद्धि, इन्द्रियों, शरीर की क्रियाओं में अनुस्यूत है। वही मन, बुद्धि आदि का प्रकाशक, आधार है। उस सब प्रकाशक, सर्वाधार में हमें स्थित रहना है। वह सत्ता सदा ज्यों की-त्यों रहती है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, स्थिरता चंचलता, योग्यता, अयोग्यता, बालकपन, जवानी, वृद्धावस्था, विपत्ति, मूर्खता आदि सभी उस सत्ता से प्रकाश पाते हैं। वस्तुत उसमें आपकी स्थिति स्वत सिद्ध है। केवल उसकी ओर लक्ष्य, दृष्टि करनी है। शरीर, इन्द्रिया, मन, बुद्धि आदि के साथ संबंध ही मोह है, इस मोहका का नाश होने पर स्मृति जाग्रत् हो जाती है 'नष्टो मोह स्मृतिर्लब्धा' (गीता १८ ७३)। स्मृति का अर्थ-जो बात पहले से ही थी, उसकी याद आ गयी। कोई नया ज्ञान होना स्मृति नहीं है। अब चाहे कुछ हो जाय, चाहे कोई व्यथा आ जाय, अपनी सत्ता में क्या फर्क पडता है? केवल अपनी सत्ता की ओर दृष्टि करनी है, फिर इसी क्षण जीवन्मुक्त है। इसमें कोई अभ्यास नही करना है।

सत्ता की ओर दृष्टि न करें, तब भी वह वैसी की-वैसी ही रहती है। पर उस ओर दृष्टि न करने से आप अपनी स्थिति क्रियाओं, पदार्थों, अवस्थाओं आदि में मानते हैं। भोजन करते समय 'मैं खाता हूँ', जल पीते समय 'मैं पीता हूँ,' जाते समय 'मैं जाता हूँ' आदि सब स्थितियों में 'हूँ' समान ही रहता है। यदि 'मैं' को हटा दे, तो 'हूँ' नही रहेगा अपितु 'है' रहेगा। वह 'है' सदा ज्यों-का-त्यों रहता है।

खोया कहे सो बावरा, पाया कहे सो कूर।
पाया खोया कुछ नहीं, ज्यों-का-त्यों भरपूर॥

इस 'है' में स्थित होते ही अखण्ड समाधि, जाग्रत् सुषुप्ति हो जाती है।

प्रवचन .

९-८-८१ (७)

त्याग से सुख की प्राप्ति

जैसे एक गृहस्थ व्यक्ति का अपने पूरे परिवार के साथ सवध रहता है, वैसे परमात्मा का भी पूरे ससार के साथ सवध है। ससार मे भले या बुरे, श्रेष्ठ या निकृष्ट कसे ही प्राणी क्यो न हो, परमात्मा का सवध सबके साथ समान है। भगवान् ने कहा है—'समोऽह सवभूतेपु' (गीता ९ २९)। प्राणियो के साथ ही नही, परिस्थितियो, अवस्थाओ, घटनाओ आदि के साथ भी एक समान सवध है। अव ध्यान दे कि किसी व्यक्ति मे यदि विशेप योग्यता है तो क्या उसके साथ परमात्मा का विशेप सबध है? नही। उसमे जो विशेषता प्रतीत होती है, वह सासारिक दृष्टि से ही है। परमात्मा का तो सवके साथ समान सवध है, उस सवध मे कभी कमी या अधिकता नही होती। अत किसी गुण, योग्यता या विशेपता से हम परमात्मा को प्राप्त कर लेंगे-यह बात ससार की विशेषता या महत्ता को लेकर की जाती है। यदि ससार से विमुख होकर देखे, तो सब-के-सब परमात्मा को प्राप्त करने के अधिकारी है। सासारिक दृष्टि से जितनी योग्यता, विलक्षणता, विशेपता है, वह पूरी-की-पूरी मिलकर भी परमात्मा को खरीद ले यह बात नही है। भगवान् ने कहा है-'नाह वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया' (गीता ११/५३) 'मैं न वेदो से, न तप मे, न दान से और न यज्ञ से ही देखा जा सकता हूँ'। बडा भारी, उग्र तप किया जाय, उसमे भी भगवान् पकड मे नही आते-'न तपोभिरुग्रै' (गीता ११/४८)।

तो भगवान् पकड में कैसे आते है ? त्याग से-'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' (गीता १२/१२)। त्याग करना हो, तो बहुत धन हो तब भी त्याग करना है, कम धन हो तब भी त्याग करना है, ज्यादा योग्यता हो तब भी त्याग करना है, कम योग्यता हो तब भी त्याग करना हे। सच्ची बात तो बडी विलक्षण है। वह यह कि जसे पापा का त्याग करना है, वैसे पुण्यो का भी त्याग करना है। बात थोडी अटपटी दीखती है, पर गुणो का, योग्यता का, पुण्य का अभिमान तो त्यागना ही पडेगा। अभिमान का त्याग ही तो त्याग है, वस्तु का क्या त्याग? वस्तु तो आपसे अलग है ही। तो ससार की जितनी योग्यता, परिस्थिति, गुण आदि है, उन सबके त्याग से तत्त्व की प्राप्ति होती है। तत्त्वप्राप्ति मे देरी इसलिए लग रही है कि आपने योग्यता, परिस्थिति, गुण, व्यक्तित्व, सामग्री आदि को पकड रखा है। यहाँ तक कि त्याग को भी पकड रखा है कि 'मैं वडा त्यागी हूँ'—इस त्यागीपने का भी त्याग करना होगा, अन्यथा परमात्मा की प्राप्ति नही होगी। ऐसे ही 'मैं वडा वैरागी हूँ' इस विरक्ति का भी त्याग करना पडेगा, अन्यथा वन्धन वना रहेगा। परमात्म का जैसे विरक्ति के साथ सम्बन्ध है, वैसे आसक्ति के साथ भ सम्बन्ध है। तो जैसे आसक्ति के साथ सम्बन्ध नही रखना है, वैरे विरक्ति के साथ भी सम्बन्ध नही रखना है। सम्पूर्ण वस्तुआ अवस्थाओ, घटनाओ, क्रियाओ आदि से परमात्मा का सबध एव समान है, तो इन सभी से विमुख होना पडेगा। इन सबसे विमुख होने पर तत्व की प्राप्ति होगी।

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥
(मानस ५/४३/१)

वास्तव मे इन सबसे हम प्रतिदिन विमुख होते हैं। कैसे? जब हम ससार का काम करते-करते थक जाते है, तब ससार से विमुख होने की मन मे आती है और हम नीद लेते हैं। इससे विश्राम मिलता है, शाति मिलती है, सुख आराम मिलता हे, ताजगी मिलती हे, नीरोगता मिलती है। यह सब त्याग से ही मिलते हैं। इतना ही नही, सांसारिक भोगो का सुख भी भोगो के त्याग से मिलता है। पर इस तरफ ख्याल न करने से भोग से सुख मिलता दीखता है। वास्तव मे सुख भोग के सयोग से नही अपितु उसके वियोग से होता है। भोग के सयोग का वियोग होने से सुख होता है। जसे भोजन करने से सुख मालूम होता है, तो वास्तव मे सुख का अनुभव भोजन का त्याग करने अर्थात् भोजन कर चुकने के बाद होता है, जब तृप्ति हो जाती है। भोग भोगने से जब उससे अरुचि होती है, तब सुख होता है। सुख होता है, तब अरुचि हो जाती है। पहले क्या होता है, इसे मनुष्य पहचान नही पाता। परन्तु त्याग से सुख होता है, इसमे कोई सन्देह नही, किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नही। कितनी ही ऊँची-से-ऊँची सामग्री से सयोग हो, उसके द्वारा परमात्मतत्त्व की प्राप्ति नही हो सकती। परमात्मा को सभी समान रूप से प्राप्त कर सकते है, चाहे वे किसी देश, वेश, सम्प्रदाय, धर्म आदि के क्यो न हो। केवल परमात्मा को पाने की उत्कट चाहना होनी चाहिये। परमात्मप्राप्ति की चाहना की पहचान है-दूसरी किसी वस्तु को न चाहना। पर परमात्मा को भी चाहता है और दूसरी वस्तुओ को भी चाहता है, तो यह दुविधा यानी द्वन्द्व जब तक है, तब तक प्राप्ति नही होगी। जो निर्द्वन्द्व होता है, वही सुखपूर्वक मुक्त होता है-'निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुख बन्धात्प्रमुच्यते ॥' (गीता ५/३)। इच्छा द्वेष से उत्पन्न हुआ यह द्वन्द्व ही

मोह है, इसीसे सब फँसे हुए हैं—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥ (गीता ५/२७)

जो इस द्वन्द्वरूप मोह से रहित है, वे दृढ निश्चय करके भगवान् का भजन करते है—'ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मा दृढव्रता' (गीता ७/२८)।

सासारिक दृष्टि से अयोग्यता की अपेक्षा योग्यता बहुत श्रेष्ठ है, पाप की अपेक्षा पुण्य बहुत श्रेष्ठ है, पर इस श्रेष्ठता से कोई परमात्मा को खरीद ले, ऐसी बात नही है। इसलिए जो सच्चे हृदय से परमात्मा को चाहता है, वह अपनी स्थिति का त्याग कर देता है, उससे विमुख हो जाता है। विमुख होते ही उसे परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। अपनी जो स्थिति है, अपना जो व्यक्तित्व है, अपनी जो योग्यता या अयोग्यता है, उसे पकडने से ही परमात्मप्राप्ति मे बाधा हो रही है। इसलिए उस सत्य तत्त्व को प्राप्त करने के लिए कोई अनधिकारी, अयोग्य, अपात्र नही है। केवल उत्पत्ति-विनाशवाली वस्तु की पकड ही उसमे बाधा दे रही है। अपनी पकड छोडी कि प्राप्ति हुई।

जब भूख लगती है, तब भोजन मे सुख मिलता है—यह निर्विवाद बात है। ध्यान दें, पहला ग्रास लेने में जो सुख मिलता है, पाँच दस ग्रास लेने के बाद क्या वही सुख रहता है? ज्यो-ज्यो हम भोजन करते चले जाते हैं, त्यो ही-त्यो भोजन का सुख कम होता चला जाता है। अन्त मे जब भूख समाप्त हो जाती है, तृप्ति हो जाती है, तब भोजन आपको सुख देता है क्या? जब भूख मिट जाय, तब ग्रास लेकर देखो कि क्या वह सुख देता है। सुख का

आरम्भ रुचि से हुआ था। इसलिए सासारिक भोग तब सुख देंगे, जब आप उनके बिना दु खी होगे। जिसके बिना आप दु खी नही होते, वह कभी आपको सुख नही दे सकता। नो यह ससार दु खी को सुख देता है, और सुख देकर वह मनुष्य को बांधता है। केवल वहम रहना है कि अमुक पदार्थ से सुख मिला।

अब अरुचि मे सुख कसे मिलता है-यह बात समझे। किसी भोग मे अरुचि हुए विना क्या आप उस भोग का त्याग करते हैं ? जब अरुचि होती हे, तभी त्याग होता है। तब तक अरुचि न हो तब तक सुख नही होता। और जब तक रुचि रहती है, तब तक सुख होता हे। यह बात मैंने पहले ही कह दी कि अरुचि से सुख होता है या सुख से अरुचि होती है-इसका विश्लेपण जरा कठिन है, पर बात दोनो सही हैं। भोग भोगते भोगते उससे अरुचि होती ही है। अब आप ध्यान दे। अरुचि का अर्थ है– सम्बन्ध विच्छेद। भोग से सम्बन्ध-विच्छेद होता है तो सुख होता है। सबध-विच्छेद क्या है यह खास समझने की बात है। विच्छेद का तात्पय है उस भोग को भोगने की शक्ति का नाश होना कि अब आगे भोग नही सकते। तो शक्ति का नाश होने से ही अरचि और सुख दोनो हुए। यदि शक्ति का नाश न होता तो अरुचि कैसी होती ? तात्पय यह है कि वह सुख भोग का नही है अपितु शक्ति के नाश अर्थात् थकावट का है। बहुत दौडने के बाद जब बैठते हैं, तो सुख मालूम होता है। तो सुख थकावट का है। अत भोग भोगने की शक्ति के नाश का नाम ही सुख हुआ। नाश कहो या अरुचि कहो। भोगी पुरुप भोग्य वस्तु का तो नाश करता है और अपना पतन करता है। विरक्त पुरुप ऐसा नही करता। मनुष्य भोग मे सुख मानकर भोग का त्याग नही करता, इसलिए न तो वह भोग के अन्त मे

होने वाली अरुचि को स्थायी कर पाता है और न त्याग के सुख को ही स्थायी कर पाता है। यदि वह समझ ले कि भोगो से सम्बन्ध-विच्छेद मे ही सुख है, तो फिर वह भोगो मे फँसेगा नही।

प्रवचन :
१०-८-८१ (८)

तत्त्वप्राप्ति में सभी योग्य है

सत्य-तत्त्व सवको स्वत प्राप्त है, परन्तु उधार अपनी दृष्टि नही है, इसीलिये वह अप्राप्त दीख रहा है। जैसे, आप कुछ भी काम करे या ना करें, पर क्या आप अपना अभाव देखते है ? मैं नही हूँ ऐसे अपनी सत्ता के अभाव का अनुभव किसी को भी नही होता, न हो सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि अपना भाव अर्थात् होनापन निरन्तर रहता है। क्रियाओ मे अन्तर पड सकता है, पर अपने होपन मे अन्तर नही पडता। पर मनुष्य की दृष्टि क्रियाओ की तरफ रहती है, अपने होनेपर की तरफ नही। वह छोटा-वडा, बढिया-घटिया, विहित-निषिद्ध आदि कम करता रहता है और अपने को उन कर्मों का कर्ता मानता रहता है। पर उसकी दृष्टि उस तत्त्व की तरफ नही जाती, जहाँ पर कर्ता टिका हुआ है, जो कर्ता का प्रकाशक, आश्रय और अधिष्ठान है। उस ज्ञान तथा प्रकाशरूप निर्विकल्प तत्त्व का कभी अभाव नही होता। तो अपना भाव (होनापन) निरन्तर रहता है। यही अपना स्वरूप है, इसका ज्ञान ही स्वरूप का ज्ञान है। इसकी तरफ दृष्टि होना ही स्वरूप-बोध है।

पहले अन्त करण शुद्ध होगा, फिर उसका अनुभव होगा- यह प्रक्रिया शास्त्रों की है और वहुत ठीक है। परन्तु अन्त करण

शुद्ध हुए बिना हम तत्त्वप्राप्ति के अधिकारी नही हैं–ऐसा मैं नही मानता। मनुष्यमात्र केवल तत्त्वप्राप्ति के लिये ही है। भगवान् अपनी अहैतुकी कृपा से जीव को मनुष्यशरीर देते हैं–कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥ (मानस ७/४३/३) नो मनुष्यशरीर के साथ-साथ मुक्ति का पूरा अधिकार भी भगवान् देते हैं। मनुष्यशरीर परमात्मप्राप्ति के लिये ही मिला है। जो परमात्मा को प्राप्त न कर सके, उसे मनुष्य बना दें–ऐसी भगवान् मे पोल नही है। एक सरकारी आदमी भी किसी पद पर उसी व्यक्ति की नियुक्ति करता है, जो उस पद को पाने का अधिकारी हो, जो उसके योग्य हो। हैड मास्टर के पद पर किसी भेड चराने वाले को लाकर नही बैठाया जाता। तो भगवान् से इतनी भूल हो जाय कि जो मनुष्य के योग्य काम न कर सके, उसे मनुष्य बना दिया–ऐसा हो ही नही सकता। जब मनुष्य शरीर मिल गया, तब तत्त्वप्राप्ति का पूरा अधिकार भी मिल गया। अब मनुष्य अपने-आप अपनी हार मान ले, तो यह उसकी गलती है। कहते हैं कि अशुद्ध अन्त करण वाला मनुष्य तत्त्व को कैसे जानेगा? मैं कहता हूँ कि अशुद्ध अन्त करण वाला मनुष्य अन्त करण के द्वारा तत्त्व को नही जान सकता, पर तत्त्व तो अन्त करण से अतीत है। क्या स्वय (अपना होनापन) अन्त करण के आश्रित है? नही। अन्त करण तो करण है, और स्वय कर्ता है। करण कर्ता के अधीन होता है। कर्ता कभी करण के अधीन नही होता। जिससे हम काम लेते हैं, उन काम करने के औजारो का नाम है–करण। काम करने वाले का नाम है–कर्ता। करण से की जाने वाली क्रियाओ को करने मे तो कर्ता करण के बिना असफल हो जाता है। परन्तु करण से अतीत तत्त्व अर्थात् अपने-आप (स्वय) मे

स्थित होने में कर्ता असफल कैसे हो जायगा ? जो अन्त करण के द्वारा स्वय को जानना चाहता है, वह अन्त करण के शुद्ध होने पर ही जानगा, पर हम अन्त करण का सम्बन्ध-विच्छेद ही कर दे तो उसे क्यो नही जान सकते ? क्योकि कर्ता (स्वय) करण (अन्त करण) के अधीन नही है। करण अलग-अलग होते हैं और उनसे होने वाली क्रियाएँ भी अलग-अलग होती हैं, पर कर्ता एक होता है।

स्वय (अपना स्वरूप) सदा निष्क्रिय रहता है जब कार्य सामने आता है, तब कर्तृत्वाभिमान के कारण वह उस कार्य का कर्ता बन जाता है। स्वरूप से तो वास्तव मे वह अकर्ता ही रहता है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनो अवस्थाओ मे वह ज्यो का त्यो रहता है, उसकी ओर लक्ष्य रहना ही स्वरूप बोध है।

एक बात आप ध्यान देकर सुनें। हमारे अन्त करण की शुद्धि होगी, तब तत्त्व को जानेंगे-यह है भविष्य की आशा। तत्त्व-प्राप्ति के लिए भविष्य की आशा बडी बाधक है, क्योकि तत्त्व भूत, भविष्य और वतमान तीनो मे है, और तीनो से अतीत है। ऐसा कोई देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि नही, जिसमे तत्त्व न हो। उस तत्त्व मे देश, काल, वस्तु आदि कुछ नही है। जब ऐसी बात है तो बताओ कि किस देश, काल, वस्तु परिस्थिति आदि मे हम उसे नही जान सकते अथवा नही प्राप्त कर सकते ? न हमारे मे करण हैं, न उसमे करण है। फिर उसे जानने मे देरी क्या ? करण के द्वारा उसे जानना चाहो तो करण की शुद्धि करनी पडेगी, और करण के द्वारा उस तत्त्व को जान सका हो, ऐसा आज तक कोई हुआ नही।

तत्त्व को जानने की जो वेदान्त की प्रक्रिया है, उसमें पहले विवेक, वैराग्य, समाधि, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षा-यह साधन

चतुष्टय सम्पन्न होता है। फिर श्रवण, मनन और निदिध्यासन-ये तीन साधन करने पडते हैं। इसके बाद तत्वपदार्थ का सशोधन होता है। तत्त्वपदार्थसशोधन के बाद सबीज समाधि होती है। यहाँ तक अन्त करण (प्रकृति) का साथ है। अन्त करण से सवथा सबध-विच्छेद होने पर निर्वीज समाधि होती है। जब निर्वीज समाधि होगी, तब तत्त्व साक्षात्कार होगा। तो यह प्रक्रिया अन्त करण के द्वारा तत्त्व की ओर जाने के लिए है। पर हम कहते हैं कि इतना सब करने की आवश्यकता नही, तत्त्व मे अभी-अभी ही स्थिति हो सकती है। केवल उसको प्राप्त करने की चाहना, उत्कण्ठा मे कमी है, इसीलिए देर हो रही है। मैं तत्त्वप्राप्ति मे किसी को अयोग्य नही मानता हू, केवल उसे प्राप्त करने की इच्छा मे कमी न हो तो तत्त्व को जान लेगा — पक्की बात है।

तत्त्व तो सदा ज्यो-का त्यो है। उसे त काल जान सकते हैं। केवल उधर दृष्टि नही है। इसे ऐसे समझ — हम आँख से सब पदार्थो को देखते हैं, पर पदार्थो से भी पहले हम प्रकाश दिखाई देता है। पहले नम्बर मे प्रकाश और दूसरे नम्बर में सब पदार्थ दीखते हैं। कारण कि प्रकाश के अन्तगत ही सब कुछ दीखता है। पर लक्ष्य न होने से हमारी दृष्टि पहले प्रकाश पर नही जाती—

जो ज्योतियों का ज्योति है, सबसे प्रथम जो भासता।
अव्यय सनातन दिव्य दीपक, सर्व विश्व प्रकाशता ॥

तो वह तत्त्व सबमे पहले दीखता है। उसीके अतर्गत सब कुछ है। वही सब कारणो को प्रकाशित करता है। उसीके द्वारा सब जाने जाते हैं। इसलिए आप लोगो से निवेदन है कि आप अपने मे तत्त्वप्राप्ति की अयोग्यता न समझें। आपमे एक ही कमी

मैं मानता हूँ, वह यह कि इस तत्त्व को जानने की उत्कट अभिलाषा नहीं है ।

तत्त्वप्राप्ति मे भविष्य की बात है ही नही । जो वस्तु उत्पन्न होनेवाली, क्रियाजन्य हो, जो दूर देश मे हो, जिसमे कुछ परिवर्तन करना हो, उसकी प्राप्ति मे तो भविष्य की अपेक्षा है । परन्तु तत्त्व स्वत सिद्ध एव सब देश–कालादि मे परिपूर्ण है । उसे प्राप्त करने मे भविष्य कैसा ? सब देश, काल, वस्तु अवस्था, परिस्थिति आदि मे आपकी स्वत सिद्ध सत्ता है । वह अखण्ड सत्ता है । उसका अनुभव करने के लिए सभी योग्य हैं, सभी अधिकारी हैं ।

प्रवचन :

१३-८-८१ (६)

अभिमान सबको दुःख देता है

अभिमान को कैसे छोडा जाय ? इस पर विवेचन करने पर विचार आया कि मनुष्य दूसरो के साथ अपना मिलान न करे, तो अभिमान से छूट सकता है । जहा कही दूसरे को साथ मे मिलाकर देखा कि अभिमान पैदा हुआ । अभिमान सम्पूर्ण दुःखों और पापो की जड है । एक अभिमान और एक कामना ये दो ऐसे दोष हैं कि इनके होने पर फिर पीछे कोई दोष बाकी नही रहता । न कोई दोष बाकी रहता है, न कोई पाप बाकी रहता है और न समारभर मे कोई पतनकारक चीज ही बाकी रहती है । मैंने खूब विचार करके देखा है कि समस्त दुःख, सन्ताप, जलन, आफत, रोना, कराहना, नरक, कदखाना आदि जो कुछ है, सब अभिमान और कामना इन दो से ही होते हैं ।

जब तक अभिमान रहता है, तब तक स्वाभाव बिगडा हुआ रहता है, सुधरता नही । तो क्या करे ? कि केवल अपनी तरफ देखे, दूसरो की तरफ देखे ही नहीं। दूसरा अच्छा करता है या मन्दा करता है, उसपर दृष्टि डाले ही नही । दृष्टि डालोगे तो अभिमान पैदा हो ही जायगा ।

तेर भावैं कछु करो, भलौ बुरौ संसार ।
'नारायन' तू बैठि के, अपनौ भवन बुहार ॥

जो अपने को गुणवान् मानता है, वह दूसरो को दु ख देता है । ध्यान दें, । वह ऐसे कि जिसके पास वे गुण नही हैं, वे उसे चुभेंगे । और आप गुणवान् नही हैं, दोषी हैं, तो दूसरे को दोष चुभेगे, और अपने को तो चुभेगे ही । तो दूसरो को दु ख से बचाना और स्वय अभिमान से बचना यह एक ही बात है । किसी भी बात का अभिमान होगा, तो उससे दूसरे को दु ख होगा ही । एक पारमार्थिक सुख ही ऐसा है कि उसमे मस्त रहने से अपने को भी सुख होगा और दूसरो को भी सुख होगा । नही तो ससार का कोई सुख ऐसा नही, जो किसी का दु ख न हो । इसलिते सुख का भोगी दूसरोको दु ख देनेवाला, दूसरोका हिंसक ही होता है । जो ससार का सुख भोगता है, वह चाहे अपने ही धन,विद्या, बल तथा न्यायपूर्वक शास्त्रविहित भोग आदि से सुख भोगता हो, तो भी दूसरे को दु ख देता है । आप किसी वस्तु से सुख लेते हो, तो वह वस्तु किसी-न-किसी की गयी है, तभी आपको सुख मिला है। कारण यह कि ससार की सब अनुकूल वस्तुएं सीमित हैं । एक सन्त-महात्मा से भी दूसरे को दु ख मिल सकता है, पर वह और तरह का है । उसका पारमार्थिक सुख किसी को दु ख नही देता, पर दूसरे अपने स्वभाव से उसे सुखी देखकर दु खी हो जाते हैं । अत

वह दु ख दूसरे के स्वभाव के कारण है। सन्त-महात्मा उस दु ख मे कारण नही बनते। जो अपनी बुद्धिमानी या चतुराई से सासारिक पदार्थों को प्राप्त करके उनसे सुख भोगता है, वही दूसरो को दु ख देता है। पारमार्थिक सुख से सुखी व्यक्ति दूसरे को दु ख नही देता, पर दूसरे दु ख ले लेते हैं, जैसे शिवलिंग पूजन के लिये होता है, पर उससे भी कोई अपना माथा फोडे तो वह क्या करे ? इसलिये सासारिक सुख से सुखी व्यक्ति ही दु ख देता है।

यह बडी गहरी बात है कि बिना दु ख दिये सुख का भोग होता ही नही। वह सुखभोग किसी-न किसी को पराधीन करता ही है। सुख भोगने से सुखभोग की सामग्री का तो नाश और अपना पतन होता है। इससे कोई बच नही सकता। इसलिये जिस-किसी तरह से सुख लेना नरको का रास्ता है।

मूल बात जो मैंने पहले बतायी, उसे ध्यान मे रखे कि ससार का सुख सीमित है एव उत्पन्न और नष्ट होने वाला है। जो वस्तु सीमित है, उसे सभी पाना चाहते हैं तो उस वस्तु के हिस्से ही तो होगे। जो पारमार्थिक सुख है, वह असीम है, अत उसके हिस्से नही होते। वह सबको ही असीम मिलता है। जैसे किसी माँ के दस बालक हो तो माँ का उन बालको मे हिस्सा नहीं होता कि माँ का इतना हिस्सा तो मेरा है, बाकी हिस्सा दूसरो का है, मेरा नही। माँ तो सबकी पूरी की-पूरी ही है। ऐसे ही भगवान् पूरे-के-पूरे अपने हैं।

कामना सवथा मिट जाय तो अभिमान भी मिट-जायगा और अभिमान सवथा मिट जाय तो कामना भी मिट जायगी। इनके मिटने पर जडता (ससार) से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय और सारे दु ख, दोष मिट जायँ।

प्रवचन :
१४-८-८१ (१०)

सासारिक सुख दुःखो के कारण है

सयोगजन्य सुख लेनेवाला व्यक्ति अपना और ससार का-दोनो का नुकसान करता है। जितने भी सयोगजन्य सुख हैं, सब-के-सब दु खो के कारण हैं-'ये हि सस्पशजा भोगा दु खयोनय एव ते' (गीता ५/२२)। सुख भोगने वाला अपने लिये और ससार के लिये भी दु खो का कारण बनता है अर्थात् सबको दु ख देता है, सबकी हिंसा करता है। इसलिये ससार का सुखभोग बिना हिंसा के नही होता। पर जो सब जगह परमात्मा को देखता है, वह अपनी और दूसरे की हिंसा नही करता—

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥
(गीता १३/२८)

सब जगह परमात्मा को देखने वाला एक विशेष आनन्द मे स्थित रहता है। वह आनन्द हिंसा से रहित है, क्योकि वह आनन्द या सुख अपना स्वरूप है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी ।
चेतन अमल सहज सुखरासी ॥ (मानस ७/११६/१)

सामारिक सुख भोगने वाले व्यक्ति को देखकर दूसरो के मन मे दु ख होता है। अपने पास भी वैसा सुख न होने के कारण दूसरे के हृदय मे जलन होती है, दु ख होता है। अत दूसरे के दु ख

का कारण बनने वाला सुख का भोगी व्यक्ति हिंसा करने वाला हुआ। अब कोई कहे कि जीवन्मुक्त महात्मा हो और उसके पास सामारिक सुख की सामग्री भी हो, तो उसे देखकर भी दूसरो को दु ख, जलन होती है। पर वास्तव मे महात्मा दूसरो के दु ख का कारण नही होता। कारण यह कि जीवन्मुक्त महात्मा सासारिक सुख का भोग नही करता। उसकी दृष्टि मे समस्त सासारिक सुख दु खरूप ही होते हैं—'दु खमेव सर्वं विवेकिन' (योगदर्शन २/१५) अत उनकी दृष्टि मे ससार का सुख है ही नही। वह तो अपने-आप मे निज-सुख से सुखी रहता है। उसका सुख परमात्मा का है। जो दु खी हो रहे हैं, उनका भी तो स्वरूप सुखरूप ही है— 'चेतन अमल सहज सुखरासी'। पर वे अपने निज-सुख से विमुख होकर ही दु ख पा रहे हैं। यदि वे भी सासारिक सुख से विमुख होकर अपने सुखमय स्वरूप मे स्थित हो जायँ, तो दोनो ही सुखी हैं। इस सुख का बँटवारा नही होता। किसी महापुरुष के पास ससार के सुख और दु ख आ भी जाते हैं, तो वे उसे सुख या दु ख नही दे सकते। वह तो समुद्र की भाँति शान्त और पूर्ण रहता है—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा य प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

(गीता २/७०)

जैसे सब जल आकर समुद्र मे मिलते हैं, तो भी समुद्र अपनी मर्यादा मे स्थित रहता है। ऐसे ही ससार के सब सुख आने पर भी जीवन्मुक्त महापुरुष अपनी मर्यादा में स्थिर रहता है, शान्त रहता है। परन्तु भोगो की कामना वाला पुरुष कभी सुखी नही हो सकता। भोग नहीं होते, तब उनके अभाव से दु खी होता है और भोग होते हैं, तब अभिमान करके दु ख पाता है, जैसे दाद की

बीमारी मे खुजली और जलन दोनो होती हैं, खुजली अच्छी लगती है और जलन बुरी। इसलिये सासारिक भोग मिलने से जो सुख होता है, वह भी एक प्रकार की व्यथा ही है। जीवन्मुक्त महात्मा को कितने ही पदाथ मिल जायें, वह शात रहता है और पदाथ न मिले, तब भी वह शान्त रहता है। उसकी शान्ति पदार्थों के अधीन नही होती। वह तो साधनअवस्था मे भी सिद्धि-असिद्धि मे सम रहता है, फिर सिद्ध-अवस्था मे तो सम होगा ही।

सासारिक पदार्थों के पास मे होने से जिसे अभिमान होता है, वह हिंसा करता है। ऐसे ही जिसे गुणो का अभिमान है, वह भी हिंसा करता है। गुण तो आने-जाने वाले हैं, उनको लेकर अभिमान करता है, तो जिसके पास वे गुण नहीं है, उनके मन मे जलन पैदा होती है, क्योंकि वे किसी से कम तो हैं नही। सब-के-सब परमात्मा के अ श हैं, अत स्वरूप से समान हैं। आने-जाने वाले पदार्थों से अपने को सुखी मानना भूल है। जो अपने को बडा और दूसरो को नीचा समझकर दूसरो का तिरस्कार करता है, वह भी हिंसा करता है। अपने मे दूसरो की अपेक्षा विशेषता का अनुभव करना भी भोग है, और उससे दूसरो की हिंसा होती है। मान-बडाई का सुख भोगनेवाला भी हिंसा करता है, क्योंकि वह अपने को मान-बडाई के योग्य समझकर अभिमान करता है और दूसरो को अयोग्य समझकर उनका तिरस्कार करता है। वह सोचता है कि कही दूसरे की बडाई हो जाएगी तो मेरी बडाई मे धब्बा लगेगा। ऐसे ही काम-धन्धा न करनेवाला मनुष्य आलस्य का सुख लेता है तो दूसरे कहते है कि हम तो मेहनत करते हैं और यह आराम से बैठा माल खाता है। तो यह भी हिंसा है। तो सासारिक सुखो को भोगनेवाला व्यक्ति खुद तो दु ख पाता ही है,

दूसरो को भी दु खी करता है।

सभी भोग दु खो के कारण हैं। सासारिक सुख पहले भी नही थे और बाद मे भी नही रहेगे। स्वय अविनाशी होते हुए भी ऐसे नाशवान् सुखो के वश मे होना अपनी हत्या करना ही है। सुख का भोगी व्यक्ति कभी पापो और दु खो मे बच ही नहीं सकता। इसलिए जो अपना कल्याण चाहता है, उसके लिए आवश्यक है कि वह किसी वस्तु, परिस्थिति, व्यक्ति आदि के कारण प्रसन्नता या सुख का अनुभव न करे। इनसे प्रसन्न होनेवाला व्यक्ति मुक्त नहीं होता। कर्मयोग मे यही खास बात है। कर्मयोगी सभी कर्त्तव्य-कर्म करता है, पर सयोगजन्य सुख का भोग नही करता। किसी बात से वह प्रसन्नता नही खरीदता।

त्याग से सुख होता है। जो पुरुष विरक्त, त्यागी होता है, उसे देखकर दूसरो को सुख होता है। अत जो संयोगजन्य सुखो का भोगी नही है, ऐसा त्यागी पुरुष दूसरो को सुख पहुँचाता है और ससार का बडा भारी उपकार करता है। त्यागी महापुरुष ससार का जितना उपकार करता है, उतना उपकार कोई कर सकता ही नही। उसे देखने से, उसकी बातें सुनने से भी दूसरो को सुख मिलता है। ऐसा महापुरुष यदि एकान्त मे बैठा हो, तो भी ससार के दु ख का नाश करता है। उसका भाव ससार को सुख पहुँचाने वाला होता है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया.।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु खभाग्भवेत्॥

अपने प्रति वैर रखनेवाला को भी वह सुख पहुँचाता है। जिसके हृदय मे अभिमान और स्वार्थ नही है, जिसका भाव दूसरो को सुख पहुँचाने का है, उसकी भगवान् की उस शक्ति के साथ

एक्ता हो जाती है, जो ससारमात्र का पालन कर रही है। इस-लिए भगवान् का किया हुआ उपकार उसीका है और उसका किया हुआ उपकार भगवान का है। इसलिए जो सुख की इच्छा और सुख का भोग करता है, वह अपना और ससार का नुक्सान करता है। और जो सासारिक सुखो का त्यागी तथा भगवान् का अनुरागी है, वह ससारमात्र का उपकार करता है। ●

प्रवचन :

१८-८ ८१ (११)

हमारा संबंध ससार से नही है

लोगो ने ऐसा समझ रखा है कि जैसे सामारिक वस्तु को पाने के लिए उद्योग करना पडता है, वसे भगवान् को पाने के लिए भी उद्योग करना पडगा। लोग शका भी करते है कि बिना कोई उद्योग किए मुक्ति कैसे हो जाएगी ? तो वास्तव मे यह बात ठीक तरह से समझी हुई नही है, तभी शका पैदा होती हैं। आप ख्याल करे कि परमात्मा सब देश, काल, वस्तु आदि मे परिपूर्ण है। जैसे सासारिक वस्तु कर्मो के द्वारा प्राप्त की जाती है, वैसे परमात्मा प्राप्त नही किए जाते। सासारिक वस्तु की तरह परमात्मा को बनाया या कही से लाया नही जाता। परमात्मा भी मौजूद है और हम भी मौजूद हैं।

देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं।
कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥
(मानस १/१८५/३)

हमारा शरीर तो बनता बिगडता है, ससार भी सब-का-सब अदृश्य हो रहा है, एक क्षण भी टिकता नही। परन्तु परमात्मा और उसके अ श हम स्वय नित्य-निरन्तर ज्यो-के-त्यो रहते हैं। इसलिए न परमात्मा को बनाना है, न अपने को बनाना है। तो फिर हमारे लिए क्या करना रह गया ? ये जो नष्ट हो रहा है न, इस ससार की ओर जो हमारा खिचाव है, इसे पकडना चाहते हैं, रखना चाहते हैं, बस, यही गलती है। इसे ही मिटाना है। इसी गलती से हम दु ख पाते हैं। जो रहने वाला नही है, निरन्तर जा रहा है, उसे अपने साथ रखने की इच्छा को ही दूर करना है, और कुछ नही करना है। परमात्मा भी मौजूद है, हम भी मौजूद हैं और परमात्मा के साथ हमारा सम्बन्ध भी मौजूद है। ससार के साथ हमारा सबध है नही, केवल माना हुआ है। हम रहनेवाले और ससार जानेवाला, इनमे सम्बन्ध है कहाँ ? तो ससार के साथ हमने सम्बन्ध मान लिया, और जिसके साथ हमारा नित्य सबध है, उसको भुला दिया, उसे नही माना—यही गलती हुई है। चाहे तो ऐसा मान लें कि परमात्मा के साथ हमारा नित्य सम्बन्ध है, और चाहे ऐसा मान ल कि ससार के साथ हमारा सबध नही है।

ठीक तरह से, गहरा उतरकर समझें कि ससार के साथ हमारा सबध है ही कहाँ ? शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि के साथ हमारा कहाँ सम्बन्ध रहता है ! ये तो बनते बिगडते रहते हैं, इनमे परिवतन होता रहता है, पर हम जैसे-के तैसे रहते हैं। ऐसा ठीक अनुभव मे न आये, तो भी इस बात को पक्की तरह मान लें कि ससार के साथ हमारा सम्बन्ध नही है। आप कहते हैं कि ससार का सम्बन्ध छूटता नही, पर मैं कहता हूँ कि ससार को पकडने की सामर्थ्य किसी मे है ही नही। बात बिल्कुल सच्ची है।

वालकपन को आपने कब छोडा ? पर वह छूट गया। सब कुछ छूट रहा है-यह सच्ची यह बात है। सच्ची वात का आप आदर करें इतना काम कर दें कि ससार का सबध छूटता नही, यह भावना ससार का सबध बिना किसी अभ्यास के, अपने आप छूट रहा है। आप छोड दें।

ससार से सबध हमने कई जन्मो से मान रखा है, इसलिए इसे छोडने मे देरी लगेगी-ऐसी बात है ही नही। पहाड की एक गुफा मे लाखो वर्षों से अँधेरा है पर आज यदि कोई वहाँ प्रकाश कर तो अँधेरे को मिटते कितने वर्ष लगेंगे ? प्रकाश होते ही अँधेरा चट दूर हो जाता है। ऐसे ही ज्ञान होने पर झूठा सबध मिटते देर नही लगेगी। आप कृपा करके इन बातो की तरफ ध्यान दें। एकान्त मे विचार कर कि समझ मे न आवे, ता भी बात तो यही सही है। भगवान्, शास्त्र, सन्त-महात्मा, ऋषि-मुनि, अनुभवी महापुरुष सभी यही बात कहते हैं कि ससार के साथ मनुष्य का सबध है नही। आप भी प्रत्यक्ष देखते है कि सबध रहता नही, निरन्तर छूट रहा है। पर आप इसे आदर नही देते। यदि इसे आदर दें तो माना हुआ सबध रहेगा नही।

ससार से हमारा कोई सबध नही-यह बात बिल्कुल सच्ची होने पर भी आपकी पकड मे इसलिए नही आती कि आप इस बात पर अपने मन-बुद्धि के द्वारा विचार करते हैं, और मन-बुद्धि से आगे जो आप स्वय हैं, वहाँ नही पहुँचते। यह बडी गलती है। आप स्वय क्या हैं ? बालकपन मे आप जो थे, अब भी आप वही हो। तो वालकपन आदि अवस्थाएँ बदल गयी, पर आप स्वय नही बदले। आपका होनापन ज्यो-का-त्यो रहा। तो अपना जो होनापन है, उसके साथ ससार का सबध नही है। जिन मनबुद्धि के द्वारा आप विचार करते हैं, वे भी नष्ट होने वाले हैं, वियुक्त

होने वाले हैं। तो वियुक्त होने वाली वस्तु से वियुक्त होने वाली वस्तु कैसे दूर होगी ? दोनों एक ही धातु के, एक ही प्रकृति के हैं। बदलनेवाले के साथ न बदलनेवाले को मत मिलाओ, इतनी ही बात है। जैसे बाल्यावस्था चली गयी, वैसे युवावस्था और वृद्धावस्था भी चली जायगी, पर आपका होनापन वही रहेगा। अत बदलनेवाले के साथ मेरा सम्बन्ध है नही ऐसा आप इसी क्षण मान लें। इसमें देरी का काम नही।

आप यह मत देखें कि ससार का सम्बन्ध छोड़ने से इन्द्रिय। मे कोई विलक्षणता आयी कि नही। किसान लोग हल चलाने, बीज बोने पर कह देते हैं कि खेती हो गयी, जबकि अभी फसल पैदा होने मे देरी लगेगी। पर खेती हो ही गयी, इसमे अब सन्देह नही है। तो आपने बात मान ली कि ससार से मेरा सबध नहीं, तो मानो खेती हो गयी ! अब मन-बुद्धि-इन्द्रियों पर इसका क्या असर पडा—इसे मत देखो। अगर नही दीखने का कारण है कि आप उस असर को मन-बुद्धि-इन्द्रियो मे ही देखना चाहते हो और मन-बुद्धि-इन्द्रियों मे ही देखना चाहते हो। मैं कहता हूँ कि आप इस पर दृष्टि मत डालो। दृष्टि उस पर डालो जो निरन्तर रहने वाली है। कितनी सुगम बात है ! कितनी ऊँची बात है ! इसमें कोई अभ्यास नही। सुगमता-कठिनता, अच्छा-मन्दा सब मन-बुद्धि इन्द्रियो मे है, जो परिवर्तनशील हैं। इससे अलग जो परिवर्तनशील नही है, वह तो ज्यों-का-त्यों है। इस वास्ते मन-बुद्धि आदि के लक्षण बिलकुल मत देखो। अपने मे यानी स्वरूप मे बदलना कभी होता ही नही। बदलनेवाले की ओर मत देखो, उसकी परवाह मत करो। निरन्तर रहनेवाले अपने स्वरूप को देखो। फिर मुक्ति स्वत सिद्ध है।

★

प्रवचन :
२१-८-८१

(१२)

भगवत्प्राप्ति सहज है

हम करेंगे, तब काम होगा–ऐसा एक क्रिया का विषय होता है। खेती करेंगे, तब होगा, व्यापार करेंगे, तब होगा, नौकरी करेंगे तब होगा-इस प्रकार एक धारणा रहती है कि हरेक काम करने से ही होगा। इसी तरह भगवत्प्राप्ति भी करने से होगी और भगवत्प्राप्ति के लिए जितना समय, बल, बुद्धि लगायेंगे, जितना अभ्यास करेंगे, उतना ही हम भगवान् के नजदीक पहुँचेंगे तथा ऐसा करते करते उसे प्राप्त कर लेगे –ऐसी धारणा रहती है। तो इसमे एक मार्मिक बात जानने की आवश्यकता है। वह यह कि परमात्मा पहले से ही मौजूद हैं। हम भी उस परमात्मा के नजदीक है। परमात्मा दूर हैं, अत धीरे अथवा तेजी से चलकर वहाँ पहुँचगे, परिश्रम भी होगा, रास्ता भी कटेगा, समय भी लगेगा ही –ऐसी बात नही है। जहाँ हम परमात्मा को प्राप्त करना चाहते हैं और जहाँ हम अपनी स्थिति को मानते हैं-वही परमात्मा पूरे-के-पूरे विराजमान है।

परमात्मा को पाने का अधिकार दूसरो का है, वे किसी और के कब्जे मे है, उन्हे छुडायेंगे तब काम बनेगा, उनकी गरज करेंगे तो वे कुछ निहाल करेंगे और उनकी प्राप्ति होगी-ऐसी बात बिल्कुल नही है। परमात्मा किसी के अधिकार मे नही हैं, उनपर किसी का कब्जा नही है, वे किसी स्थान पर बन्द नही हैं, वे किसी ज्ञान आदि से बँधे हुए नही हैं। वे बिल्कुल खुले हैं। उनपर हमारा पूरा हक लगता है, क्योकि हम उन्ही के अश हैं-'ममैवाशा

जीवलोके' (गीता १५/७), 'ईस्वर अ स जीव अविनासी' (मानस ७/११६/१)। जैसे वालक होता है, तो उसे अपनी माँ की गोदी मे जाने के लिए क्या क्या काम करना पडता है ? क्या अभ्यास करना पडता है ? क्या उसे शुद्ध होना पडता है ? क्या उसे विद्वान, वलवान् या धनवान् बनना पड़ता है ? वह तो माँ है, है, जैसा-का तैसा ही माँ के पास जा सकता है । भगवान् तो उस माँ से भी विशेष अपने और समीप हैं। कारण कि माँ तो एक जन्म की होती है और भगवान् सदा के हमारे हैं । भगवान् तो सदा से ही हमारे माता, पिता, भाई, वन्धु, सम्बन्धी, कुटुम्बी हैं । हमसे नजदीक-से-नजदीक वस्तु भगवान् ही हैं। वे शरीर से भी अधिक नजदीक हैं, क्योकि शरीर तो परिवतनशील होने से हमसे अलग है। शरीर की ससार के साथ एकता है और हमारी भगवान् के साथ एकता है। इसलिए उन्हे पाने के लिए समय, वल, बुद्धि लगानी पडे-ऐसी वात नही है । केवल उधर हमारी दृष्टि नही है। हमारी दृष्टि नाशवान् पदार्थों की तरफ है । नाशवान् पदार्थों मे भी परमात्मा ज्यो-के-त्यो परिपूण है, परन्तु उधर दृष्टि न रहने से वे नही दीखते, नाशवान् पदार्थ दीखते हैं । जैसे हम गाडी मे जा रहे है । किसी स्टेशन पर गाडी ठहरी । अधिक देर ठहरी, कारण कि सामने दूसरी गाडी आ रही है। सामने से गाडी आयी और दूसरी लाइन मे खडी हो गयी । हम उस गाडी की तरफ देखते हैं। वह गाडी चल पडती है, तो मालूम होता है कि हमारी गाडी चल पडी, जबकि हमारी गाडी ज्यो की-त्यो खडी है । इसका पता तब लगेगा, जब हम स्टेशन की तरफ देखेंगे । इसी प्रकार चलनेवाले ससार को न देखकर स्थिर रहनेवाले परमात्मतत्त्व को देखे । तो यह परमात्मा न कहीं से आया और न कहीं गया, वह तो ज्यो-

का-त्यो है। चलनेवाला तो ससार है।

सासारिक वस्तु की प्राप्ति समय पाकर होगी, क्योकि वह हमारे पास नही है। अत उसके पास जाना पडेगा या उसे अपने पास लाना पडेगा, उसमे परिवर्तन करना पडेगा अथवा उसका निर्माण करना पडेगा, तब वह वस्तु मिलेगी। संसार के लिए तो यह कायदा है, पर परमात्मा के लिए यह कायदा नही। जो नित्य-निरन्तर मौजूद हैं, उसे ही प्राप्त करना है। पर उधर दृष्टि न रहने से वह दूर दीखता है, उसमे और हमारे मे भेद दीखता है। इसका कारण यह कि नाशवान् की तरफ हमारी दृष्टि चली गयी।

अब यह मान लें कि परमात्मा सब देश और काल मे हैं, सब वस्तुओ मे हैं, सब व्यक्तियो मे हैं और खास अपने मे हैं। शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि अपने नही हैं। ये सब परमात्मा के हैं। जो अपने नही हैं, उन्हें अपना मान लेने से जो अपने हैं, वे अपने नही दीखते।

गीता मे भगवान् कहते हैं— 'यो मा पश्यति सर्वत्र' (गीता ६/३०) 'जो मुझे सब जगह देखता है', और 'मया ततमिद सर्वं' (गीता ९/४) 'यह जो दीखता है, इसमे मैं हूँ' तथा 'ईश्वर सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' (गीता १८/६१) मैं सब प्राणियो के हृदय मे विराजमान हूँ और 'सवस्य चाह हृदि सनिविष्ट' (गीता १५/१५) 'मैं सबके हृदय मे पूरा-का-पूरा, अच्छी तरह प्रविष्ट हूँ।' यह जानने योग्य तत्त्व हृदय मे विराजमान है — 'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्' (गीता १३/१७)।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री, पुरुष, पडित, मूर्ख, पशु, पशु पक्षी - कोई भी क्यो न हो, सबमे परमात्मा है। वे पर-

मात्मा सबके हैं और परम सुहृद हैं—'सुहृदं सर्वभूतानाम्' (गीता ५/२९)। एक विलक्षण बात है कि वे परमात्मा सबको निरंतर अपनी तरफ खींच रहे हैं, बुला रहे हैं। इसका क्या पता ? तो इसका पता बड़ा प्रत्यक्ष है कि किसी भी परिस्थिति, अवस्था में आपको वे टिकने नहीं देते। आप किसी भी समुदाय में रहो, किसी भी वस्तु से सम्बन्ध जोड़ो—वह टिकेगा नहीं। किसी के साथ भी भगवान् टिकने नहीं देते, क्योंकि तुम इनके साथी नहीं हो और वे तुम्हारे साथी नहीं हैं। बालकपन छूट जाय तो हम जवानी को पकड़ लेते हैं, जवानी गयी तो बुढ़ापे को पकड़ लेते हैं। आप पकड़ते हो और भगवान् छुड़ाते हैं। यह भगवान् का क्रियात्मक उपदेश है। एक तो कहकर बताया जाता है और एक करके बताया जाता है। तो वे शास्त्रों के, सन्तों के द्वारा कहते ही हैं और करते यह हैं कि आपको किसी के साथ टिकने नहीं देते। मानो कहते हैं कि मेरी तरफ ही आओ, और कहीं मत टिको, और किसी को अपना मत मानो, क्योंकि वास्तव में वे तुम्हारे हैं नहीं, मैं तुम्हारा हूँ और तुम मेरे हो।

प्रश्न—जो दिखायी देता है, इसमें परमात्मा हैं या जो दिखायी देता है, वह परमात्मा ही हैं ? दोनों में कौन-सा सही है?

उत्तर—दोनों ही सही हैं। देखो, यदि प्रकृति और पुरुष (परमात्मा और उनकी शक्ति)-ये दो मानते हो, तब तो संसार में परमात्मा हैं। और यदि एक परमात्मा को ही मानते हो, तब परमात्मा ही हैं। साधन में कौन-सा आसान है, इसमें साधक की धारणा है। यदि उसकी धारणा है कि सब कुछ परमात्मा ही है, तो ठीक है। पर हरेक के लिये यह बात कठिन है, क्योंकि जो दिखायी पड़ता है, वह तो एकदम बदलता है और परमात्मा बदलते

नही, तो फिर यह बदलनेवाला परमात्मा कैसे ?-ऐसी शका अधिक हो सकती है। इसलिये उसमे परमात्मा हैं ऐसा मानने मे शका कम होती है। ये दो ही नही, चार बातें हैं—चाहे तो ससार मे परमात्मा को मान लो, चाहे परमात्मा मे ससार को मान लो चाहे ससार को परमात्मा ही मान लो, और चाहे यह ससार परमात्मा का है, ऐसा मान लो। सबका नतीजा एक ही होगा। सबमे परमात्मा है-यह बात सुगम पडेगी। इससे भी सुगम यह बात पडेगी कि ससारमात्र परमात्मा का है, इसके मालिक परमात्मा हैं ऐसा मानकर सबकी सेवा करो। खास बात है कि लक्ष्य परमात्मा का होना चाहिये, फिर सब ठीक हो जायगा।

प्रवचन :

२२-८-८१ (१३)

हमारा स्वरूप सच्चिदानन्द है

यह जो आप मानते हैं कि 'मैं हूँ', तो इसमे एक विशेष बात ध्यान देकर सुने। आप अकेले 'मैं हूँ' ऐसा मानते हो, तो यह 'हूँ'-पना एकदेशीय है, और 'तू है, यह है', 'वह है'-ये 'है'-पना व्यापक है। तो यह 'है' ही 'मैं' के कारण 'हूँ' बना। अगर 'मैं' न हो, तो केवल 'है' ही रहेगा। तो यह 'मैं' तब होता है, जब कुछ चाहना होती है। मनुष्य कुछ करना चाहता है, कुछ जानना चाहता है, कुछ पाना चाहता तो कुछ न-कुछ चाहना है, तभी 'मैं हूँ' है। अगर कुछ भी चाहना न रहे, तो 'है' ही रहेगा।

आपने अनादिकाल से 'हूँ' (जो 'नही' है) मे अपनी स्थिति मान रखी है। 'है' मे स्थिति होनेपर 'हूँ' नही रहता। इनकी तो

ऐसी महिमा हमने पढी है कि एक बार जो 'है' में स्थित हो गया, तो फिर उसे जानने, करने, पाने की किञ्चिन्मात्र भी जरूरत नही रहती। वह 'है' मे स्थित हो गया, तो न करना रहा, न जानना रहा, न पाना रहा। कुछ भी नही रहा। एक 'है' ही रह गया। वहाँ तो पूर्णता है। जब तक साथ मे 'नही' रहता है, तब तक पूर्णता नही होती। पूर्णता मे आंशिकरूप से भी 'नही' नही रहता। तो एक बार 'है' मे स्थिति होने पर फिर कभी उसमे 'हूँ' नही आता। जो 'हूँ' का पुराना सस्कार है, वह मन-बुद्धि मे स्फुरित हो सकता है, पर 'है' मे कभी 'हूँ' नही आता। मन-बुद्धि मे इसलिए आता है कि मन-बुद्धि उसके साथ रहे हैं। इस वास्ते जैसे कोई पुरानी बात याद आ जाय, ऐसे 'हूँ' आता है। वास्तव मे तो 'हूँ' है ही नही, फिर आये कहाँ से ? जो याद आ जाय, वह वास्तव मे होती नही। केवल पुरानी देखी, सुनी, भोगी हुई वस्तु की यादमात्र आती है, वस्तु तो आती नही। ऐसे ही 'हूँ' की याद आ जाय, तो वह है नही। उस 'है' मे सबकी स्थिति है।

अब एक खास बात बताई जाती है। ध्यान देकर सुनें। वह यह कि वास्तव मे हम क्या चाहते हैं इसकी तरफ ख्याल करें। कई तरह की चाहनाएँ इकट्ठी करने के कारण मनुष्य वास्तव मे क्या चाहता है, इसे भूल गया। पर भूलनेपर भी भूलता नही। उसे हरदम याद रहता है, परन्तु पूछने पर ठीक जवाब नही दे सकता, क्योंकि उसने इसपर अभी विचार ही नही किया। यदि विचार करे, तो यह पता लगता है कि मैं सदा रहना चाहता हूँ। कोई भी व्यक्ति ऐसा कभी नही चाहता कि मैं मिट जाऊँ। किसी वक्त दु ख मे ऐसा कहता है कि मर जाऊँ तो सुखी हो जाऊँ। तो शरीर को दु ख का कारण मानता है, इसलिए दु ख मिटा

के लिए शरीर को मिटाना चाहता है कि मैं सुखी हो जाऊँ। तो मैं बना रहूँ और सुखी रहूँ—यह चाहना तो रहती ही है। धन, सम्पत्ति, वैभव, मान, बडाई, नीरोगता आदि की जो चाहना होती है, यह असली हमारी चाहना नही है। हमारी चाहना तो सदा रहने की है। और सदा रहने का नाम 'है' है। जो नित्य-निरन्तर रहता है, उसे ही 'है' कहते हैं। उस 'है' मे स्थित होते ही हमारी नित्य-निरन्तर रहने की चाहना पूरी हो जाती है। पर यदि दूसरी चाहना करता है, तो 'है' से अलग हो जाता है, क्योकि जो चीज अभी नही है, उसे पाने की चाहना हुई, तो चाहना तो 'नही' को ही हुई। तो 'नही' को पकडने सेही चाहना होती है। यदि 'नही' को न पकडे, तो 'है' मे ज्यो-का-त्यो है।

चाहना सदा 'नही' की ही होनी है। 'है'—पन तो सदा रहता है, कभी मिटता नही। जिस अ श मे 'है' से विमुख होते हैं, उसी अ श मे 'नही' की चाहना करते हैं। चाहना से ही उस अ श मे 'है' से अलग होते हैं, नही तो 'है' से अलग होने की सामर्थ्य किसी मे है नही। चाहनेपर भी अपना होनापन तो मानते ही हैं। तो 'नही' की चाहना का त्याग कर दे, फिर 'है' मे स्थिति स्वत सिद्ध है।

हम ज्ञान चाहते हैं, जानना चाहते है। तो यह जानना भी 'है' मे स्वत सिद्ध है, पर 'नही' को पकडने से जानने की चाहना होती है। यदि 'नही' को न पकडें, तो जानने की चाहना भी समाप्त हो जायगी।

हम क्या नही चाहते हैं? तो हम दु खी होना नहीं चाहते है। 'है' मे दु ख है ही नही। ज्ञान मे दु ख है ही नही। किसी बात

का ज्ञान हुआ, तो स्वत एक शांति, एक सुख का अनुभव होता है, क्योंकि ज्ञान आनन्दरूप है।

इस प्रकार हमारी चाहना हुई—सत, चित और आनन्द की प्राप्ति जो स्वत अपने मे है। जो मिटता है, उसे 'असत्' कहते हैं, पर जो कभी नही मिटता, उसे 'सत्' कहते हैं। जिसमे ज्ञान नही है, उसे जड कहते हैं। जो ज्ञानमात्र चेतन है। जहाँ कभी दु ख आता ही नही, वही आनन्द है। तो ये सत्, चित् और आनन्द सबको स्वत प्राप्त है। हमारा स्वरूप सच्चिदानन्द है। अब जहा उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तु को पकडा कि आफत आयी। जो उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तु है, वह आपका स्वरूप नहीं है। उसे पकडने से ही दु ख पा रहे हैं। धन नही है, पुत्र नही है, घर नही है—इस प्रकार कई तरह की नही-नही को पकड लिया। इसी कारण अपने सच्चिदानन्द स्वरूप का अनुभव नहीं हो रहा है।

प्रश्न—अपने स्वरूप 'है' मे स्थिति होने के बाद भी पुराने संस्कार आते हैं क्या ?

उत्तर—पुराने संस्कार 'है' मे नही आते, मन-बुद्धि मे आते हैं। संस्कार तो मन-बुद्धि मे पडे हुए हैं, पर उनको अपने मे मान लेते हो। अनादिकाल से ही मन बुद्धि मे आनेवाले संस्कारों को अपने मे मानते चले आए हैं। पर ये अपने मे आते ही नहीं कारण कि ये आने जानेवाले हैं और स्वय रहनेवाला है। आने जानेवाले का प्रवेश मन-बुद्धि मे तो हो सकता है, पर 'है' मे अभी प्रवेश नही हो सकता। 'है' मे 'नही' का प्रवेश कैसे हो सकता है! केवल आप नही को भूल से अपने म मानकर उससे सम्बन्ध जोड़ लेते हैं।

स्वरूप मे आकर्षण-विकर्षण भी बिल्कुल नहीं हैं। ये तो मन बुद्धि मे हैं। थोडा-सा ध्यान दें कि आकर्षण और विकर्षण

दोनो किसी ज्ञान के अन्तर्गत दीखते हैं। तो उस ज्ञान मे ये दोनो कहाँ हैं ? जैसे प्रकाश मे हाथ दीखता है, तो हाथ के अन्तर्गत प्रकाश नही है, वल्कि प्रकाश के अन्तर्गत हाथ है। ऐसे ही मन बुद्धि मे होने वाले आकर्षक विकर्षण ज्ञान के अन्तर्गत है। ज्ञान कहो या 'है' कहो। उसमे आपकी स्वत -स्वाभाविक स्थिति हैं।

प्रश्न —जबतक यह शरीर है, तब तक अन्त करण मे ये विकार होते रहेगे ?

उत्तर–नही, बिल्कुल नही ! अन्त करण के विकार शरीर के रहने से सम्बन्ध नही रखते। अन्त करण मे विकार रहते है— असत् को सत् मानने से, 'है' को 'नही' मानने से। असत् को सत् माना कि विकार आये। असत् को सत् न मानने से शरीर के रहते हुए भी विकार नही आयेंगे। शरीर का वृद्ध होना, कमजोर होना आदि विकार तो अवस्था के अनुसार स्वत स्वाभाविक होगे। पर आकर्षण विकर्षण आदि जो विकार हैं, ये नही होगे। ये तो असत् मे सत्-बुद्धि होने से ही होते हैं। खूब विचार करो। असत् असत् ही है और सत् सत् ही है। आप 'है' मे स्वत स्थित हो। स्थित न होने पर ही स्थित होना पडता है। जिसमे पहले से ही स्थित हो, उसमे स्थित क्या होना ? आप 'है' मे स्थित हो, तभी आने-जाने वाले दीखते हैं।

किस पुरुष ने किस परिस्थिति मे कौन-सी चेष्टा की, यह सिवाय उसके दूसरा कोई नही जान सकता। इसलिये किसी पर आक्षेप न करके सत्य का निर्णय करना चाहिये। दूसरे को सामने रखकर सत्य का निर्णय कभी नही हो सकता। अपने को सामने रखो। यदि दूसरे का आदर्श लेना पडे, तो शुभ कार्यों मे ही लो, अशुभ कार्यों मे नही।

प्रवचन :

२४-८-८१ (१४)

दृश्यमात्र अदृश्य में जा रहा है

एक बडी सीधी बात है। उसे ठीक तरह से समझ लें, तो बडी अच्छी तरह साधन चल पडेगा। जैसे गगाजी का प्रवाह चलता है, इसे मान लिया और जान भी लिया, तो फिर कभी सन्देह नही होगा कि प्रवाह चलता है या नही चलता। ता जैसे गगाजी का प्रवाह चल रहा है, वसे ससार का प्रवाह चल रहा है। यह सब का सब ससार निरन्तर अदृश्य की तरफ जा रहा है। यह दीखनेवाला सब प्रतिक्षण न दीखने मे जा रहा है। जो कल दीखता था, वह आज नही दीखता है। थोडा विचार करके देखें कि कल जो शरीर था, वह आज नही है। प्रतिक्षण बदल रहा है। इस प्रकार सारा दृश्य प्रतिक्षण अदृश्य हो रहा है। सीधी सरल बात है। सीखने की कोई जरूरत नहीं। चाहे मान ले, चाहे जान ले। यह सब-का-सब जा रहा है। इसमें कोई सन्देह हो तो बोलो ! जिस दिन कोई मर जाता है, तो कहते हैं कि आज वह मर गया। पर वास्तव मे जिस दिन जन्मा, उसी दिन से उसका मरना शुरु हो गया था और वह मरना आज पूरा हुआ है।

जो अवस्था अभी है, वह प्रतिक्षण जा रही है। धनवत्ता और निधनता, आदर और निरादर, मान और अपमान, बलवत्ता और निर्बलता, सरोगता और नीरोगता इत्यादि जो भी अवस्था है, वह सब जा रही है। अब इसमें क्या राजी और क्या नाराज होवें ? इस बात को समझने के बाद इसपर दृढ़ रहें। अभी कोई

आकर कहे कि अमुक आदमी मर गया, तो भीतर भाव रहे कि नयी बात क्या हो गयी ? जो बात प्रतिक्षण हो रही है, वही तो हुई। यदि इसमें कोई नयी बात दीखती है तो दृश्य हर समय अदृश्य मे जा रहा है—इस तरफ दृष्टि नही है, तभी मरने का सुनकर चिन्ता होती है, मन मे चोट लगती है। यह तो मृत्युलोक है। मरने वालो का ही लोक हैं। यहाँ सब मरने-ही-मरने वाले रहते हैं। मृत्यु के सिवाय और है ही क्या ? प्रत्यक्ष में ही सबकुछ अभाव मे जा रहा है। इस बात को ठीक तरह से समझ लो। जो जीवन है, वह मृत्यु मे जा रहा हे। अभी तक जितने दिन जी गए, उतना मर ही गए। जी गए, यह बात तो झूठी है और मर गये, यह बात बिलकुल सच्ची है। इस बात को समझना है, याद नही करना है। अब कहो कि जितने दिन जिये, उसमे मरने की क्रिया दिखायी नही देती। तो विचार करें कि यदि काले बाल नही मरते तो आज बाल सफेद कैसे हो गये ? आप कहे कि रूपान्तरित हो गये, तो मरने मे क्या होता है ? रूपान्तर ही तो होना है। पहले जैसे जीता हुआ दीखता था, वैसे अब नही दीखना। आधी उम्र आपकी चली गयी, तो आधा तो मर ही गये ! आधी उम्र चली गयी-यह बात तो आप मानते हो, पर आधा मर गये-यह आपकी समझ मे नही आता। पर वास्तव मे एक ही बात है। केवल शब्दो मे अन्तर है, भाव मे बिलकुल अन्तर नही। सुनने मे कडा इसलिए लगता है कि जीने की इच्छा हे। पर बात सच्ची है। आधी उम्र चली गयी-यह बात जँचती है, तो जँची हुई बात को ही मैं पक्का करता हूँ। इतना ही मेरा काम है। मैं कोई नई बात नही सिखाता। तीन बात होती हैं-सीखी हुई, मानी हुई और जानी हुई। उसे पक्का मानलो, पक्का जान लो-इतना ही मेरा कहना

फिर बात है। हमेशा जागत रहेगी। उसमें संदेह नहीं होगा। तो जितनी उम्र बीत गई, उसमें सन्देह होता है क्या ? सन्देह नहीं होता तो उतना मर गया—इसमें सन्देह कैसे रह गया ? शरीर हरदम जा रहा है, यह बात बिल्कुल सच्ची है।

मैं अपनी बीती बात बताऊँ कि जिस दिन मैंने यह समझा कि यह दृश्य अदृश्य में जा रहा है, मुझे इतनी प्रसन्नता हुई कि ओहो ! कितनी मार्मिक बात है! कितनी बढ़िया बात है! मैं ठगाई नहीं करता हूँ, झूठ नहीं बोलता हूँ। आप थोड़ा ध्यान दो कि शरीर मरने की तरफ जा रहा है कि जीने की तरफ ? बिलकुल सच्ची बात है कि यह तो मरने की तरफ जा रहा है। दृश्य अदृश्य की तरफ जा रहा है, तो यह मरने की तरफ जा रहा है। अदृश्य दृश्य में आ रहा है, तो वह भी मरने की तरफ जा रहा है। मेरे मन में बात आयी कि जैसे बालक पाठ पढ़ता है तो उसे क, ख, ग, घ, एक बार याद हो गए, तो फिर याद हो ही गये। फिर उससे पूछो तो वह तुरन्त बता देगा। याद नहीं करना पड़ेगा। तो ऐसे आप भी चलते-फिरते हरदम याद कर लो कि यह सब जा रहा है दृश्य अदृश्य में जा रहा है। भाव अभाव में जा रहा है। जीवन मृत्यु में जा रहा है। दर्शन अदर्शन में जा रहा है। इस प्रकार इसे हरदम याद रखो तो अपने-आप इसका प्रभाव पड़ जायगा और बड़ा भारी लाभ होगा। बालक की तरह इस पाठ को सीख लो आज। जितना सुख का लोभ है, जितना जीने का लोभ है, उतना इस बात का आदर नहीं है। लोभ और आदर दो चीज हैं। इस बात का आदर कम है, लोभ का आदर ज्यादा है। आदर कम है, यही भूल है। तो आज ही इस बात का आदर करो।

प्रवचन :

२५-८-८१ (१५)

संयोग में वियोग का अनुभव

एक विशेष लाभ की और बहुत सीधी-सरल बात है। जीने की इच्छा, करने की इच्छा और पाने की इच्छा—ये तीन इच्छाएँ है। ये तीन इच्छाएँ जितनी प्रबल होगी, उतनी ही ससार मे अधिक फँसावट होगी और वास्तविक तत्त्व को समझने मे बडी भारी बाधा लगेगी। यदि ये इच्छाएँ मिट जाय, तो बहुत-ही सीधा काम है।

कल जो बात कही थी, उसे यह जीने की इच्छा ही समझने नही देती। इस इच्छा से मिलता कुछ नही, फायदा कुछ नही। सिवाय नुकसान के कोई फायदा नहीं। यह जो बात है कि जितनी उम्र बीत गयी, उतने हम मर गये, तो जीने की इच्छा प्रबल होने से ही यह बात समझ मे नहीं आती। अब पावभर उम्र चली गयी तो पावभर मर गये, आधी उम्र चली गयी तो आधे मर गये और पूरी उम्र चली गयी तो पूरे मर गये। अब इसमे शका क्या है? जैसे सरोवर मे जल आ जाय, तो पानी समाप्त होनेपर कहते हैं 'पानी छूट गया' (समाप्त हो गया)। ऐसे ही आदमी मर जाय तो कहते हैं 'छूट गया'। तो पानी जिस दिन भरा, उसी दिन नही छूटा। वह छूटते-छूटते छूट गया। पानी तो निरन्तर छूटता है और एक दिन पूरा छूट गया। ऐसे ही मनुष्य निरन्तर छूटता है। अब इसमे नयी बात कौन सी? तो यह सब-का-सब ससार छूट रहा है, खत्म हो रहा है।

महाभारत के वनपर्व मे यक्ष और महाराज युधिष्ठिर का सवाद आता है। वहाँ यक्ष ने प्रश्न किया कि आश्चर्य की बात क्या है ? इसका उत्तर महाराज युधिष्ठिर देते हैं—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम् ।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥

(महा० वन० ३१३/११६)

'ससार मे प्रतिदिन ही जीव यमलोक को जा रहे हैं, फिर भी बचे हुए लोग यहाँ सदा जीते रहने की इच्छा करते हैं। इससे बढकर आश्चर्य और क्या होगा ?'

तो कहा कि 'अहन्यहनि' अर्थात् प्रत्येक दिन ही प्राणी यमलोक जा रहे हैं। प्रत्येक दिन कैसे ? कि जिस दिन जन्मा है, उसी दिन से यमलोक नजदीक आ रहा है। तो जितने दिन बीत गये, उतनी उम्र तो कम हो ही गयी, उतनी मौत नजदीक आ ही गयी। इसमे सन्देह नही है। दर्शन प्रतिक्षण अदर्शन में जा रहा है। एक दिन नष्ट हो जायगा तो दीखेगा नही। ससार प्रतिक्षण 'नही' मे जा रहा है। यदि वर्तमान मे ही सब-का-सब नहीं मान लें, तो वर्तमान मे ही तत्त्व-साक्षात्कार, ब्रह्मज्ञान, तत्त्वज्ञान, मुक्ति, आत्म-साक्षात्कार हो जाय।

मरनेवालो का सम्बन्ध अपने साथ है नही। हम तो अमर है—'ईस्वर अस जीव अबिनासी'। अनादिकाल से हम तो वही हैं और शरीर उत्पन्न हो-होकर नष्ट होते हैं। तो शरीर के रहते हुए ही हम उससे वियोग को स्वीकार कर लें, तो परमात्मा में अपनी स्थिति का अनुभव स्वत हो जाय। जिसका वियोग हो रहा है और जिसका वियोग अवश्यम्भावी है, सयोग के रहते ही उसके वियोग का अभी अनुभव कर लें कि इससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं।

साधारण से साधारण घरो के अनुभव की बात है। भाई-बहन खेलते-खेलते लड पडते हैं तो माँ लडके से कहती है कि 'अरे भाई! बाई ने क्यूँ मारे, आ तो आपरे घरे जाई' (लडकी को क्यो मारता है, यह तो अपने घर जायगी)। अब वह छोटी बच्ची है, सगाई भी नही हुई, पर उसकी भावना क्या है? कि यह अपने घर जायगी, यहाँ नही रहेगी। ऐसी ही यह शरीररूपी लडकी भी अपने घर जायेगी, यहाँ नही रहेगी। तो यह सब-का-सब जाने वाला है। जा ही रहा है हरदम। विवाह का दिन नजदीक आ रहा है कि नही? उसके रवाना होने का दिन नजदीक आ रहा है कि नही? तो आज ही मान लो कि यह अपनी नही है। हाँ, लडकी का पालन-पोषण कर दो, उसे भोजन दे दो, कपडा दे दो। तो लडकी की तरह यह सारा ससार जानेवाला है। इसकी सेवा कर दो। यह सेवा करने के लिये ही है, लेने के लिये नही। क्या लडकी के घर से भी लिया जाता है। लडकी को देते हैं कि उससे लेते हैं, बताओ? तो ससार से लेने की इच्छा पाप है। लेने की इच्छा छोड दो तो उससे सम्बन्ध छूट जायेगा और आपकी मुक्ति हो जायेगी। तो जीने की इच्छा के मूल मे कारण है—शरीर से एकता मानना। जिस सयोग का प्रतिक्षण वियोग हो रहा है, उस सयोग मे सद्भाव कर लिया, उसे सच्चा मान लिया-यह गलती की। इस वास्ते जन्मना-मरना पडेगा।

जो मौत का भय है, इससे बडा सुन्दर तत्त्व भरा हुआ है, जो स्वय है, वह तो मरता नही और जो शरीर है, वह रहता नही। तो जो रहता नही, उसे मरने का भय नही हो सकता और जो मरता नही, उसे भी मरने का भय नही हो सकता। ध्यान दें, जो हरदम मर ही रहा है, वह तो मौत-रूप ही है। मौत को मौत

से क्या भय ? और जो मरनेवाला है ही नहीं, उसे मौत से भय कैसे लगे ? तो न तो स्वय के मरने का भय है, न शरीर के मरने का भय है। जिस शरीर का अपने से प्रतिक्षण वियोग हो रहा है, उसके साथ हमने सयोग मान लिया और उस सयोग की जो सत्ता मान ली, वही मर रही है। यही मरने का भय है। इसका उपाय क्या है ? उपाय है-वियोग मान लेना। पतिक्षण वियोग हो रहा है, सयोग है ही नही। इसी का नाम है मुक्ति।

सयोग की सत्ता मान रखी है-यही गुत्थी है, यही चिज्जड ग्रथि है, यही बन्धन है। जिसका निरन्तर वियोग हो रहा है, उसके सयोग को सच्चा मान लिया इसीके ऊपर सभी अनर्थ हैं। वियोग रूपी अग्नि मे यह सयोग लकड़ी की भाँति निरन्तर जल रहा है। तो सयोग सच्चा नही है, वियोग सच्चा है। इसलिए अभी अभी दृढ़ता से इस वियोग को स्वीकार कर ले, तो इसी क्षण मुक्ति हो जाय, कल्याण हो जाय। अब इसमे क्या जोर लगता है ? सयोग को मानना ही बन्धन है और वियोग का अनुभव करना ही मुक्ति है। वियोग को स्वीकार कौन करे ? जो मरना नही चाहे, वह। पर अनुभव करने की गरज नही है, इसलिए देरी हो रही है। गरज इसलिए नही है कि जीने की इच्छा है और उसमे है सयोग जन्य सुखभोग और सग्रह की इच्छा, जो खास बाधा है।

इससे भी एक बारीक बात है। मेरा निवेदन है, आप ध्यान देकर के सुनें। शरीर-ससार का प्रतिक्षण वियोग हो रहा है-ऐसा निश्चय करके बैठ जायँ। कुछ भी चिन्तन न करें। फिर चिन्तन हो तो वह भी मिट रहा है। मिटने के प्रवाह का नाम ही चिन्तन है। मिटनेवाले के साथ हमारा सम्बन्ध है ही नही। यह सब नित्य निरन्तर मिट रहा है, और हम इसे जाननेवाले हैं, इससे अलग हैं।

ऐसे अपने स्वरूप को देखे। दिन मे पाँच-छ बार १५-१५ मिनट ऐसा कर लें। फिर इस बात को बिल्कुल छोड दे। फिर याद करें ही नही। फिर याद नही करने से बात भीतर जम जायेगी। इतनी विलक्षण बात है यह! इसे हरदम याद रखने की जरूरत नही है। याद करो तो पूरी कर लो और छोड दो तो पूरी छोड दो, फिर याद करो ही नही। जैसा रोजाना काम करते हैं, वैसा-का-वैसा ही करने जायँ। फिर बात एकदम दृढ हो जायगी। यह याद करने की चीज ही नही है। यह तो केवल समझ लेने की, मान लेने की चीज है। यह बीकानेर है—इसे क्या आप याद किया करते ? याद करने से तो और फँस जाओगे, क्योकि याद करने से इसे सत्ता मिलती है। मिटाने से सत्ता मिलती है। हम इसे मिटाना चाहते हैं, तो इसकी सत्ता मानी तभी तो मिटाना चाहते है! जब हम सत्ता मानते ही नही, तो क्या मिटावे ? तो इसकी सत्ता ही स्वीकार न करें।

प्रवचन .
२८-८-८१

(१६)

स्वभाव-सुधार की आवश्यकता

ऐसी-ऐसी बातें याद आती हैं कि अगर एक पर भी ध्यान दिया जाय, तो एकदम लाभ हो जाय। ऐसी कई बातें हैं। उसमे से एक बात कहता हूँ। मनुष्यो ने प्राय भजन, स्मरण, जप, कीतन, सत्सग, स्वाध्याय, व्रत-नियम आदि को महत्त्व दे रखा है। इसमे भी भजन-स्मरण को महत्त्व देते हैं। भगवान् के सम्बन्ध की जितनी महिमा है, उतनी महिमा और किसी की नही है, यह सच्ची

बात है। परन्तु फिर भी जैसा लाभ होना चाहिए, वैसा हो नहीं रहा है। उसका कारण क्या है ? वह यह कि मनुष्य अपने स्वभाव के सुधार की तरफ ध्यान नहीं देता। पुराना जैसा स्वभाव है, वैसा ही करते रहते हैं। तो उससे क्या होगा ? किया हुआ भजन-स्मरण कहीं जाएगा नहीं, उसका नाश नहीं होगा, परन्तु वर्तमान में उसका जीवन शुद्ध, निर्मल चमकेगा नहीं।

स्वभाव में दो भयंकर व्याधियाँ हैं-संग्रह करना और सुख भोगना। इससे स्वार्थ और अभिमान ये विशेष दोष आते हैं। इनसे स्वभाव बहुत बिगडता है। अपना भी बिगाड होता है और दूसरों का भी। तो अगर पारमार्थिक उन्नति चाहते हैं तो स्वभाव का सुधार करें। और जो स्वभाव का सुधार है, वह इतने ऊंचे दर्जे की चीज है कि भगवान् को आस्तिक मानते हैं, नास्तिक नहीं मानते, परन्तु सुधरे हुए स्वभाववालों को आस्तिक और नास्तिक दोनों ही मानेंगे। मनुष्य किसी सम्प्रदाय का क्यों न हो, उसका सुधरा हुआ स्वभाव सभी को अच्छा लगेगा, सबके भीतर उसका असर पडेगा। पर जिसका स्वभाव बिगडा हुआ है, वह अपने सम्प्रदायवालों को भी इच्छा नहीं लगेगा, फिर दूसरे सम्प्रदायवाले उसका क्या आदर करेंगे ?

अपने स्वभाव का सुधार करना बडा भारी आवश्यक है। भगवान् ने तो इतना कह दिया कि दैवी-सम्पत्ति मुक्ति के लिए है और आसुरी-सम्पत्ति बाँधने के लिए है—

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता। (गीता १६/५)

स्वार्थबुद्धि, भोगबुद्धि-यही आसुरी स्वभाव है। असुर उसे नहीं कहते, जिसके सींग होते हैं। जो स्वार्थ में पडकर पैसों के लिए, भोग के लिए अनर्थ करते हैं, वे असुर हैं। भगवान् ने गीता में कहा

है कि राक्षसी, आसुरी और मोहिनी स्वभाववाले लोग मेरा भजन नही करते अपितु मेरी अवहेलना करते है, तिरस्कार करते हैं (गीता ६/११-१२)। राक्षसी स्वभाववाले वे हैं जो क्रोध मे आकर दूसरो का नाश करे, आसुरी स्वभाववाले वे है, जो अपने स्वार्थ के लिए, अपने सुख के लिए दूसरो का नाश करे, और मोहिनी स्वभाववाले वे हैं जो मूढता से, बिना किसी मतलब से दूसरो का नाश करे, दूसरो का नुक्सान करे। तो आजकल आसुरी स्वभाव बहुतो मे है। क्रोध तो आने जानेवाला है, मूढता सत्सग से नष्ट हो जाती है, परन्तु यह स्वार्थ-दोष हरदम रहता है। अपने शरीर के सुख आराम और अनुकूलता की इच्छा आसुरी-प्रकृति है, जो हरदम रहती है।

क्रोध और मूढता (मोह) उतने भयकर और नुक्सान करनेवाले नही, जितना स्वार्थ-दोष है। साधक के लिए स्वार्थबुद्धि बहुत नुक्सानदायक है। यह भजन, ध्यान, स्वाध्याय आदि तो करने लग जाता है, पर स्वार्थ दोष की ओर उसकी वृत्ति नही जाती कि इधर भी अनर्थ हो रहा है। शरीर के आराम, भोग, सुख, सग्रह की इच्छा और किसी तरह अपना मतलब सिद्ध करने का भाव बडा भारी नुक्सान करता है। इससे आदमी ऊँचा नहीं उठ सकता। इस वास्ते सज्जनो ! अपने स्वभाव का सुधार करो। स्वार्थ-बुद्धि का त्याग करके दूसरो का हित करो। इसके बिना बीमारी मिटेगी नही।

आज के जमाने मे तो स्वार्थ-बुद्धि के त्याग की बडी भारी आवश्यकता है। इस स्वार्थ के कारण झूठ, कपट, बेईमानी, ठगी, धोखेबाजी, विश्वासघात आदि न जाने कितने-कितने पाप हो रहे हैं, जिनका कोई अन्त नही। तो जैसे भूखे के लिए अन्न की और

प्यासे के लिए जल की जरूरत होती है, ऐसे ही इस जमाने में स्वार्थ-त्यागियो की बडी भारी जरूरत है। हमारे देश को स्वार्थ-त्यागियो की बडी भूख लगी हुई है, भूखा मर रहा है हमारा देश। इसलिए कोई आदमी थोडा भी स्वार्थ का त्याग और दूसरे का हित करता है, तो वह बहुत ही जल्दी विलक्षण हो सकता है।

दूसरे को सुख कैसे मिले ? दूसरे को लाभ कैसे हो ? दूसरे का हित कैसे हो ?—यह एक भाव रखने से स्वार्थ का बडी सुगमता से त्याग हो जाता है और स्वभाव का सुधार हो जाता है। परन्तु जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरे को सुख पहुँचाता है कि दूसरे पर मेरा अच्छा असर पडेगा, दूसरे मुझे अच्छा समझेंगे, तो इससे स्वभाव मे असली सुधार नही होता। ऐसा करना सेवा की बिक्री करना है। अत दूसरे को इस तरह से सुख पहुँचाये, इस तरह से सेवा करे कि दूसरे को पता भी न लगे। जिसकी सेवा की जाय, उसे भी पता न लगे और दूसरो को तो बिल्कुल पता न लगे। तब वही स्वभाव सुधर सकता है।

मनुष्य जो अच्छा कार्य करता है, बदले मे वह सुख आराम, मान बडाई आदि खरीद लेता है। अच्छा कार्य करते ही वह अभिमान को पकड लेता है। यह अभिमान सम्पूर्ण आसुरी-सम्पत्ति की जड है। जैसे महाभारत के नलोपाख्यान मे आया है कि बहेडे की छाया मे कलियुग रहता है, ऐसे ही इस अभिमान की छाया मे कलियुग रहता है। जितने दुर्गुण-दुराचार हैं, सब इसकी छाया मे रहते हैं। यह अभिमान सब किये-कराये को नष्ट कर देता है। और आजकल इस अभिमान को ही हर एक बात से खरीदते है। दान-पुण्य करें तो, भजन-स्मरण करें तो, जप-ध्यान करे तो, उपकार करें तो, सेवा करें तो-इस अभिमान को ही

खरीदते हैं, जो आसुरी सम्पत्ति का असली मूल है। तो इसका त्याग करने से स्वभाव सुधरेगा। कोई मुश्किल काम नही है। विचार पक्का हो जाय कि हमे तो अभिमान त्यागना ही है, तो हो जायगा। नही तो वडी हिम्मत का काम है। रोजाना तीन लाख नाम-जप कर लेंगे और सब काम कर लेंगे, पर अभिमान नही छोडेंगे। साधु हो जायँगे, त्याग कर देंगे, पर 'मैं त्यागी हूँ' ऐसे त्याग का अभिमान वैसा-का-वैसा रखेंगे।

अहंकार राक्षस महान्, दुःखदायी सब भाँति।
जो छूटे इस दुष्ट से, सोई पावै शांति॥

तो यह अहकार महान् राक्षस है। इस वास्ते सज्जनो! स्वभाव को शुद्ध, निर्मल बनाओ। जो दुर्गुण-दुराचार दीखे, उसे निकालो। फिर भजन-स्मरण का बहुत विलक्षण प्रभाव होगा। ये राक्षस (स्वार्थ और अभिमान) साथ मे बैठे हैं, इसलिए उसका प्रभाव नही होने देते, साधक को असग नही होने देते। इस वास्ते स्वभाव का सुधार करने की, उसे शुद्ध बनाने की बडी भारी आवश्यकता है। ●

प्रवचन :
२६-८-८१ (१७)

सत्य क्या है !

हमे तो अपना उद्धार करना ही है, चाहे कुछ भी हो— इस निश्चय की लोगो मे कमी है। यह इच्छा जितनी जोरदार होगी, उतनी ही ससार से अरुचि हो जायगी। सत्सग मे पारमा-

थिक बातों को सुनने से (अपने उद्धार की) रुचि होती है, और सासारिक भोग भोगने के भोगने के बाद (भोगो से) अरुचि होती है। तो इन दोनो को स्थायी कर ले अर्थात् सत्सग की रुचि और भोग की अरुचि-इन दोनो को पक्का कर लें। यह आपका काम है।

अभी सत्सग मे रुचि हो, तो सत्सग से उठते ही इस बात का निश्चय कर लें कि अब यही काम करना है, तो यह स्थायी हो जायगी। अगर यह स्थायी हो गयी, तो सब काम बन गया। यह अपने उद्धार का काम बहुत सुगम है, केवल रुचि की जरूरत है। भीतर एक बात जँची हुई है कि यह काम जल्दी नही होता, देरी लगती है। यह बहुत घातक चीज है। परमात्मतत्त्व के लिये भविष्य की आशा बहुत ही घातक है। भविष्य की आशा उस वस्तु के लिये होती है जो कर्मजन्य हो, जिससे देश-काल की दूरी हो। पर जो सब देश, काल, वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि मे पूर्णरूप से विराजमान हो, उसके लिये भविष्य नही होता। सासारिक कामो के लिये जैसे भविष्य की आशा होती है, वैसे परमात्मतत्त्व के लिये भी भविष्य की आशा रखना कि इसमे बहुत समय लगेगा-यह यह बहुत गलत धारणा है।

मैं आपको वही बातें सुनाता हूँ, जो मुझे अच्छी लगती हैं और जिनसे मुझे बहुत लाभ हुआ है। आप इन बातो का आदर करें तो बहुत जल्दी लाभ हो सकता है। जसे एक राजा का राज्य की सम्पूर्ण वस्तुओ पर, सम्पूर्ण गाँवो पर शासन रहता है सबध रहता है, उससे भी बहुत विशेष सबध परमात्मा का है। बहा विशेष यह कि इन वस्तुओ की सत्ता ही उस परमात्मा मे दीख रही है। नही तो एक क्षण भी न ठहरनेवाला ससार सच्चा क्या दीखता! तो इससे परमात्मा का नित्य-निरन्तर सबध है ही।

किमी क्षण भी उसका वियोग सम्भव नही, ऐसा उसका नित्ययोग निरन्तर बना हुआ है। ससार के सयोग के वियोग का नाम ही 'योग' है— त विद्याद्दु खसयोगवियोग योगसज्ञितम् ।' (गीता ६/२३) । इस क्षणभगुर ससार से वियोग स्वीकार करते ही योग हो जाता है। वियोग तो प्रतिक्षण हो ही रहा है। तो अभी ही वियोग का अनुभव कर ले।

ससार के भोगो से अरुचि सबकी ही होती है। उस अरुचि को ससारी लोग स्थायी नही करते और भोगो से जो सुख मिलता है, उस रुचि को स्थायी करते हैं। यही गलती होती है। साधक को चाहिये कि वह उस अरुचि को स्थायी करे।

प्रश्न—ससार से वियोग का अनुभव होनेपर उसकी नश्वरता या असत्यता का ज्ञान तो हो जाता है, लेकिन सत्य क्या है—इसका पता कैसे लगेगा ? हम किस प्रकार जानें कि यह सत्य-तत्त्व है ?

उत्तर—देखो भाई, मेरे विचार मे तो सत्य की अभिलाषा कब है, इसलिये लगन नही है। सत्य की बात इतनी सरल, इतनी बढिया और इतनी प्रत्यक्ष है कि क्या बताऊँ ! अब ध्यान दें। जिससे आपको असत्य का ज्ञान होता है, वही सत्य है। असत्य का ज्ञान असत्य से नहीं होता। अब बताओ, कितना नजदीक है यह सत्य !

बहुतो का यह प्रश्न रहता है कि ससार तो नाशवान् है ही, पर परमात्मा अविनाशी हैं—इसका क्या पता ? अरे, अविनाशी के बिना विनाशी दीखता ही नहीं । बिना सत्य के असत्य का भान ही नही होता। असत्य तभी असत्य दीखता है, जब आप सत्य मे स्थित होते हैं। तो सत्य मे आपकी स्थिति स्वत सिद्ध है।

बस यही पर डटे रहो। न जाने सत्य क्या होता है ? प्राप्ति क्या होती है ? तत्त्वज्ञान क्या होता है ? जीवन्मुक्त क्या होता है ? क्या यो सीग हो जाते हैं, कि कोई पू छ हो जाती है, कि कोई पख लग जाते हैं, क्या हो जाता है ? न जाने इस प्रकार क्या क्या कल्पना कर रखी है ! कृपानाथ ! आप इतनी कृपा करो कि बस इतनी ही बात है कि असत्य का जिसे बोध होता है, वही सत्य है। कोई पूछे कि सबकुछ दीखता है, पर आख नही दीखती ? तो जिससे सबकुछ दीखता है, वही आँख है। आँख को कैसे देखा जाय कि यह आँख है ? दपण मे देखने पर भी देखने की शक्ति नही दीखती, वह शक्ति जिसमे है, वह स्थान दीखता है। तो सुनने, पढने, विचार करने से जो आपको ज्ञान होता है, वह ज्ञान जिससे होना है, वही सत्य है। वही सबका प्रकाशक और आधार है। वही ज्ञान-स्वरूप है, वही चेतन-स्वरूप है, वही आनन्द-स्वरूप है।

जैसे दर्पण मे मुख दीखता है, ऐसे ही यह ससार दीखता है। ससार स्थिर नही रहता, बदलता रहता है-यह अपने अनुभव की बात है। अब यही देख। पहले यहाँ बिल्कुल जगल था, अब मकान बन गया। यह आपकी देखी हुई बात है। यह कौन सा सदा रहेगा ! एक दिन सफाचट हो जायगा, कुछ नही रहेगा। तो सब मिट रहा है, प्रतिक्षण मिट रहा है। इसे मिटता हुआ ही मान लें।

जासु सत्यता तें जड़ माया।
भास सत्य इव मोह सहाया ॥ (मानस १/११६/४)

कितनी सुन्दर बात कही छोटे-से रूप मे ! जिसकी सत्यता से यह जड माया मूढता के कारण सत्य की तरह दीखती है, वही सत्य है। जैसे चने के आटे की बूंदी बनाई जाय, बिल्कुल फीकी,

तो उसे चीनी मे डालने से वह मीठी हो जाती है। चने का फीका आटा भी मीठा लगने लगता है, तो यह मिठास उसकी नही है। उन मीठी वूंदियो को मुँह मे थोडी देर चूसते जाओ, तो वे फीकी हो जायँगी, क्योकि वे तो फीकी ही थी। तो वताओ कि चीनी मीठी हुई कि वूंदी मीठी हुई? जो फीके को मीठा करके दिखा दे, वह स्वय मीठा है ही। ऐसे जो असत्य को भी सत्य की तरह दिखा दे, वह सत्य है ही।

प्रकाश और अधकार दोनो का जिससे ज्ञान होता है, वह अलुप्त प्रकाश है अर्थात् वह प्रकाश कभी लुप्त होता ही नही। वह क्रियाओ और अक्रियाओ को, जाग्रत-स्वप्न-सुपुप्ति को, सम्पूर्ण अवस्थाओ को प्रकाशित करता है। सव अवस्थाएँ उससे जानी जाती हैं। उसी मे आप हरदम स्थित रहे। उससे नीचे न उतरे।

प्रवचन :

३०-८-८१ (१८)

अवगुणों को मिटाने का उपाय

अपना अवगुण अपने को दीखने लग जाय, यह बहुत वढिया वात है। यह जितना स्पष्ट दीखेगा, उतना ही उस अवगुण के साथ सम्बन्ध विच्छेद होगा-यह एक वडे तत्त्व की वात है।

जव साधक को अपने मे दोष दीखायी देता है, तव वह उससे घवराता है और दु खी होता है कि क्या करूँ, मैं साधक कहलाता हूँ और दशा क्या है मेरी! तो यह दु खी होना तो अच्छा है। परन्तु यह दोष मेरे मे है—ऐसा मानना अच्छा नही। ध्यान

दें, माधक के लिए बहुत बढ़िया बात है। जैसे आँख में लगा हुआ अंजन आँख को नहीं दीखता, पर दूसरी सब चीजें दीखती हैं, ऐसे ही जबतक अवगुण अपने भीतर रहता है, तब तक वह स्पष्ट नहीं दीखता, और जब अवगुण दीखने लगे, तब समझना चाहिये कि अब अवगुण मुझसे कुछ दूर हुआ है। अगर दूर न होता, तो दीखता कैसे ? जितना स्पष्ट, साफ दीखे, उतना ही वह अपने में दूर जा रहा है। अत्यन्त दूर की वस्तु और अत्यन्त नजदीक की वस्तु—दोनों ही आँखों से नहीं दीखतीं। इसलिये अवगुण दीखने पर एक प्रसन्नता आनी चाहिये कि अब दोष मेरे में नहीं है, अब वह निकल रहा है, मिट रहा है। भूल तभी होती है, जब साधक उसे अपने में मान लेता है।

अपने में दोष को मान लेना बहुत बड़ी गलती है। अपने में मानने से दोष को सत्ता मिलती है, जबकि दोष की स्वतन्त्र सत्ता है नहीं। आपकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है और दोष को अपने में मानने से वह सत्ता दोष को मिलती रहती है। इससे वह दोष जीता ही रहता है, मरता नहीं, क्योंकि उसे आपका बल मिल गया।

दोष अपने में नहीं —इसकी एक पहचान तो यह हो गयी कि वह दीखने लग गया। दूसरी पहचान यह है कि यदि अपने में दोष हो, तो उसे सब समय में दीखते रहना चाहिए। जबतक 'मैं हूँ' यह ज्ञान रहता है, तबतक उसके साथ साथ दोष के रहने का भी ज्ञान होता है क्या ? तो यह हरदम नहीं रहता। वह आता और जाता है। तो ऐसा आगन्तुक दोष अपने में कैसे हो सकता है। मैं बार-बार आप लोगों से कहता हूँ कि अपने में दोष को मानना बहुत बड़ी गलती है। इतनी बड़ी गलती है कि मानो दोष को निमन्त्रण देकर बुलाते हैं कि हमारे यहाँ से कहीं

चला न जाय । इस प्रकार आप दोप को आग्रहपूर्वक, निमत्रण देकर के रखते है ।

मूल मे दोष अपने मे नही है, क्योकि—

ईस्वर अस जीव अविनासी ।
चेतन अमल सहज सुखरासी ॥

(मानस ७/११६/१)

स्वय ईश्वर का अ श, सदा रहनेवाला, चेतन, ज्ञानस्वरूप है । यह अमल है अर्थात् इसमे मल नहीं हैं, और सहज सुखराशि है । सहज-स्वाभाविक ही सुखराशि होनेपर भी जो यह दूसरे से (सयोगजन्य) सुख चाहता हैं, यह गलती करता है । जव दूसरे की तरफ से वृत्ति हटकर अपने स्वरूप मे स्थिति होगी, तव उस सहज सुख का अनुभव होगा ।

ना सुख काजी पंडितॉ ना सुख भूप भयॉ ।
सुख सहजाँ ही आवसी तृष्णा रोग गयॉ ॥

तो दूसरे से सुख की इच्छा, लोलुपता के मिटने से ही सहज सुख प्रकट होगा, और सहज सुख से मन स्थिर होगा । गोस्वामीजी महाराज कहते हैं—

'निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा' (मानस ७/८९/४)

जब तक निज सुख नही मिलता, तव तक मन स्थिर नही होगा । जब निज सुख मिल जायगा-अपने पास मे ही सुख मिल जायगा, तब वह मन कही जायगा ही नही । इन्द्रियाँ भी अपने-आप वश मे हो जायँगी, स्थिर हो जायँगी ।

ये दोप पुष्ट होते हैं, एक ता अपने मे दोप मानने से, एक दूसरे का दोप देखने से, और दूसरे की दु ख की परवाह न करने

से। ध्यान दे, दूसरे के दु ख की परवाह न करने से अपने में दोष स्थित होता है, कायम होता है। हर समय सावधान रहे कि कहीं मेरे द्वारा दूसरे को दु ख तो नही हो रहा है? मेरे बोलने से, चलने से, बैठने से किसी को दु ख या विक्षेप तो नही हो रहा है? मैं कोई क्रिया करता हूँ, तो उससे दूसरे को दु ख तो नहीं हो रहा है? गीता मे भगवान् ने कहा है—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाण सर्वभूतहिते रताः ।। (गीता ५/२५)

अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियो के हित मे रत हुए पुरुष निर्वाण ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। और,

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्व भूतहिते रताः (गीता १२/४)

अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियो के हित मे रत हुए पुरुष मुझे ही प्राप्त होते हैं। तो साधक निर्गुण-तत्त्व की प्राप्ति चाहे अथवा सगुण-तत्त्व की-उसके लिए किसी को दु ख न देने की वृत्ति की बडी भारी आवश्यकता है। दूसरे को कष्ट, दु ख देनेवाले की तत्त्व मे स्थिति नही होती। सत महात्माओ के सिद्धात हैं, गीता के सिद्धात हैं, भगवान् के सिद्धात हैं, उनके विरुद्ध तो करना ही नही है, मृत्यु भले ही हो जाय। अन्यथा सिद्धान्त के विरुद्ध चलने से महान् अपराध होता है।

परमार्थ-पत्रावली पुस्तक मे मैंने एक दिन एक पत्र देखा था। बहुत सुन्दर पत्र है वह। वह पत्र सेठजी ने भाईजी को लिखा था। बहुत पुराना पत्र है। उसमे लिखा है कि जैसे सुनार के पास सोना गलाने की कुठाली होती है, उसमे सोने को गलाकर उसे तपाते हैं तो सोने मे जो मैल होती है, वह तो बहुत जल्दी जल जाती है, परन्तु उसमे जो विजातीय धातु होती है, वह जल्दी नहीं जलती। ऐसे ही अन्त करण मे जो कूडा करकट या मैल है, वह तो

जल जाती है, परन्तु जो विजातीय धातु है-जसे, दूसरे को दु ख देना, दूसरे के दोष देखना, शास्त्रो और सन्त-महात्माओ के विरुद्ध चलना आदि, इसका जलना कठिन हो जायगा। साधनरूपी आग और सत्सगरूपी फूंक हरदम लगती रहेगी, तब वह जलता-जलता साफ हो जायगा, स्वच्छ हो जायगा। स्वरूप तो आपका स्वच्छ, शुद्ध है ही।

दूसरो का अहित करनेवाला का बडा भारी नुक्सान होता है। दूसरो का हित करनेवाले को गीता ने 'परमयोगी' माना है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र सम पश्यति योऽर्जुन ।
सुख वा यदि वा दु खं स योगी परमो मतः ॥

(गीता ६/३२)

तात्पर्य यह है कि जैसे कोई हमारी चीज ले जाय तो हमे बुरा लगता है, हमारे मे दोष देखता है तो बुरा लगता है, हमारी निन्दा करता है तो बुरा लगता है, हमारा तिरस्कार करता है तो बुरा लगता है, हमारे मन के विरुद्ध करे तो बुरा लगता है— इसप्रकार 'आत्मौपम्येन' अपने शरीर की उपमा देकर सोचे कि दूसरे का ऐसा बर्ताव मुझे बुरा लगता है, तो वैसा बर्ताव हम किसी से नही करेगे। भोगी आदमी तो इसका यह अर्थ लेता है कि जिससे अपने को सुख हो, वह काम करना है और जिससे अपने को दु ख हो, वह काम नही करना है एव बुरा बर्ताव करनेवाले को खत्म करना है, हटाना है। परन्तु जो साधक होता है, उसमे यह सावधानी होती है कि ये जो बर्ताव मुझे बुरा लगता है, उसका अर्थ यह है कि ऐसा बर्ताव मैं किसी के साथ न करूँ, और जो दु ख आता है, वह मेरी उन्नति के लिए आता है। दूसरे का आचरण हमे चुभता है, तो ऐसा आचरण दूसरो को भी चुभता है-पक्की बात है। जैसे

शरीर मे कही भी होनेवाला दु ख हमे नही सुहाता, वैसे ही दूसरो का दु ख भी हमे नही सुहावे। यदि हमारे शरीर, मन, वाणी, भाव आदि से किसी भी जीव को दु ख होता है, तो जल्दी साधन की सिद्धि नही होती। जैसे अपने शरीर मे होनेवाला सुख हमे सुहाता है, वैसे ही दूसरो को होनेवाला सुख भी हमे सुहाना चाहिये।

मनुष्य मे यह बडी कमजोरी है कि वह भजन, ध्यान आदि को तो साधन मानता है, पर दूसरो के दु ख की परवाह नही करता। यदि यही बात रहेगी तो वर्षों तक सत्सग, साधन करने पर भी सुधार नही होगा। तो कम-से कम दूसरे को दु ख न दे। सेवा करो तो अच्छी बात, सेवा न करो तो इतनी हानि नही, परन्तु दु ख देने से बडी भारी हानि होती है। साधक इससे जितना बचेगा, उतनी ही अपने सुख की कामना दूर होगी। तो सुखभोग की वृत्ति तब दूर होगी, जब दूसरे का दु ख अपने को चुभने लगेगा, दूसरे के दु ख को दूर करना हमारा सुख हो जायगा, और दूसरे का दु ख हमारा दु ख हो जायगा। जैसे अपना दु ख दूर करने के लिये मनुष्य की स्वत चेष्टा होती है, वैसे ही दूसरे का दु ख दूर करने की स्वत चेष्टा हो जाय, तो विषयेन्द्रिय सयोग के सुखभोग की रुचि मिट जायगी। और जबतक दूसरे के दु ख की परवाह नहीं करने और अपना सुख लेते हैं, तबतक अपने सुख की वृत्ति मिटती नही। कोई कहे कि हम दु ख नही देते, फिर दूसरे का दु ख देखने की क्या जरूरत है? तो अपने मे जो सुख-बुद्धि है, इसे मिटाने के लिये 'दूसरे का दु ख कैसे दूर हो' यह चिन्तन होगा, तो अपने सुखभोग की रुचि मिट जायगी। इस वास्ते सन्तो के लक्षणो मे लिखा है—

'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर' (मानस ७/३७/१)

सुखभोग मे भी दो चीज है, जिसे सन्तो ने कही कनक और कामिनी नाम से और कही दमडी और चमडी नाम से कहा है। पैसो की आसक्ति दमडी की और स्त्री की आसक्ति चमडी की। तो ये दोनो बहुत खराब हैं। तभी कहा है कि–

माधोजी से मिलना कैसे होय ।

सबल बैरी बसै घर भीतर, कनक कामिनी दोय ॥

इन दोनो को गीता ने भोग और ऐश्वर्य नाम से कहा है-

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥(गीता २/४४)

भोग शब्द से स्त्री और ऐश्वय शब्द से पैसो का सग्रह लेना चाहिये। जिसकी इन दो मे आसक्ति होती है, उसकी परमात्मा मे निश्चयात्मिका बुद्धि नही होती कि परमात्मा को प्राप्त करना है। इनकी आसक्ति तब दूर होती है जब दूसरे के हित का भाव हो जाय। आजकल हमारे देश मे इसकी बहुत अधिक आवश्यकता है। जसे बीकानेर मे कभी मतीरा न हो या कम पैदा हो, तो बहुत मन मे आती है कि मतीरा नही हुआ। क्योकि यहां वह होता है। जहां मतीरा पैदा होता ही नहीं, वहां मन मे नही आती। ऐसे ही हमारे देश मे, साधुओ और गृहस्थो मे उपकारी आदमी बहुत हुए हैं। आज उनकी बडी भारी कमी होने से देश को उपकारी आदमियो की भूख लगी है।

हमारे कारण किसी को दु ख न हो—ऐसा विशेष ध्यान रखने से अपने सुखभोग की रुचि मिट जायगी, जिसके मिटने से हमारी दोषयुक्त वृत्तियां सब मिट जायगी। हम वृत्तियो की तरफ ही ख्याल करते है, उसके कारण की तरफ नही। यदि कारण की खोज करके उसे मिटा दें, तो सब दोष मिट जायें। ●

प्रवचन :
३१-८-८१ (१६)

मनुष्य की वास्तविक उन्नति किसमे ?

मनुष्य चाहता है कि जो वस्तु मेरे पास अभी नही है, वह मिल जाय। उसी के मिलने से वह अपनी उन्नति मानता है। एक तो भोग नही है, वे मिल जायँ और एक रुपये-पैसे नही है, वे मिल जायँ। इस प्रकार जो चीज नही है, वह मिल जाय तो निहाल हो जाऊँ। परन्तु जो अभी नही है वह मिल जाय तो फिर बाद मे भी नही रहेगा-यह बात भी सच्ची है। धन कितना ही मिल जाय, पर वह सदा साथ रहेगा नही। चाहे धन चला जाय, चाहे आप मर जायँ और चाहे दोनो नष्ट हो जायँ। जो पहले नही है, वह बाद मे भी नही रहेगी। ऐसी वस्तु की मनुष्य इच्छा करता है, और उसे इकट्ठी करके समझता है कि हमने बडी भारी उन्नति कर ली! हमारे मा-बाप साधारण व्यक्ति थे, पर हम लखपति-करोडपति बन गये–यह बडा काम कर लिया! फिर इसमे वह अभिमान करने लगता है। वास्तव मे देखा जाय तो यह महान् मूर्खता है, मामूली मूर्खता नही।

जितने भी सम्बन्ध-जन्य सुख है, वे सब-के-सब दु खो के ही कारण है–'ये हि सस्पर्शजा भोगा दु खयोनय एव ते।' (गीता ५/२२)। और कोई दु ख का कारण है ही नही। अर्जुन ने पूछा कि महाराज, मनुष्य को पाप मे कौन लगाता है ? तो भगवान् ने उत्तर दिया—'काम एष' (गीता ३/३७) अर्थात् जो अपने पास मे नही है, उसकी कामना। रुपया मिल जाय, मान-बडाई मिल जाय, वाह-वाह मिल जाय, नीरोगता मिल जाय, आराम मिल

जाय आदि कामना ही सम्पूर्ण पापो और दुखो की जड है। उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तु की चाहना होनेपर दु ख भोगना ही पडेगा, इसमे ब्रह्माजी भी नही बचा सकते। सम्बन्धजन्य सुख की इच्छा से कोरे दु ख और पाप ही होते हैं। सम्बन्ध के समय थोडा सा सुख मिलता है, पर पहले और बाद मे दु ख-ही-दु ख रहता है। शरीर खराब हो जाता है, फिर नरको मे जाता है, चौरासी लाख योनियो मे जाता है इसप्रकार आगे दु ख-ही-दु ख आता है।

यह बात तो मैंने कई बार कही कि वस्तु की इच्छा हुई तो उस इच्छा के मिटने से सुख होता है, पर वह समझता है कि वस्तु के मिलने से सुख हुआ। यदि वस्तु के मिलने से ही सुख होता हो, तो उस वस्तु के रहते हुए फिर दु ख नही होना चाहिये। तो वास्तव मे वस्तु के न मिलने का दुख नही है, दु ख तो उसकी इच्छा का है। वह इच्छा मिटते ही सुख होता है। यदि वह इच्छा सदा के लिये मिट जाय, तो मौज हो जाय।

जो नही है, उसकी प्राप्ति मे बहादुरी मानना कोरा वहम ही है। जो परमात्मा सदा से हैं और सदा रहेगे—उसे प्राप्त कर लेना ही वास्तव मे उन्नति है। केवल उत्पन्न और नष्ट होने वाले पदार्थो की लोलुपता के कारण ही उस नित्यप्राप्त तत्त्व की प्राप्ति नही हो रही है। यदि नाशवान् के सम्बन्ध का त्याग कर दें, तो वह जैसा है वैसा मिल जायगा। वह तो मिला हुआ ही है। केवल दृष्टि उस तरफ नही है। दृष्टि केवल नाशवान् भोग और सग्रह की तरफ है, जो कि है नही, रहेगा नही। परमात्मा थे, हैं और रहेगे तथा एक बार मिलनेपर फिर कभी नही बिछुडेगे। उनके मिलने पर फिर कभी किञ्चिन्मात्र भी मोह, दु ख नही होगा- 'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्' (गीता ४/३५)। वे अपने है और उनपर

अपना वैसा अधिकार है, जसा माँ पर बच्चे का अधिकार रहता है। बच्चा रोकर के माँ से चाहे जो करा ले, ऐसे भगवान् से चाहे जो करा लो! भगवान् कहते हैं-मैं तो हूँ भगतन को दास मेरे भगत मुकुटमणि! धन ने कहा कि तू मेरा मुकुटमणि है? कभी कहा कि मैं तुम्हारा हूँ, तुम हमारे हो? पर भगवान् कहते हैं कि तुम हमारे हो-'ममैवांशो' (गीता १५/७)। वे अपने हैं और सदा अपने साथ रहते हैं। उनसे कभी वियोग हुआ नहीं, है नहीं और होगा नहीं। ऐसे परमात्मा से विमुख होकर उसे चाहते है जो अभी नही है, और मिल जायगा तो अन्त मे नही रहेगा! क्या अक्ल पर पत्थर पड गये, जो उलटा-ही-उलटा चल रहे हैं? नाशवान् की इच्छा तो कभी पूरी होगी नही। पूरी हो भी कैसे? वह अधूरा और आप पूरे, वह नही रहनेवाला और आप रहने वाले परमात्मा के अश। धन के लिये आप धम छोड देते है, आराम छोड देते हैं, सुख छोड देते हैं, सबकुछ छोडकर धन के पीछे पडे रहते हैं। पर जब वह धन जान लगता है, तब आपसे पूछता ही नही! उस निदयी को दया नही आती कि इसने मेरे लिये धम-कम छोडा है, सत्य बोलना छोडडा है, झूठ, कपट, बेईमानी आदि बडे-बड पापो को स्वीकार किया है, तो कम-से-कम इसकी सम्मति तो लेता जाऊँ! पर भगवान् के लिये त्याग करें तो?—

ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥

(श्रीमद्भागवत ९/४/६५)

भगवान् कहते हैं कि जो पुरुष स्त्री, घर, पुत्र, कुटुम्बीजन, प्राण, धन और इस लोक का त्याग करके एक मेरी शरण में आ

गये हैं, उनका त्याग करने का उत्साह भी मेरे मन मे कैसे हो सकता है ? तो ये स्त्री, घर, पुत्र आदि सब-के-सब एक दिन छूटनेवाले ही हैं। इन छूटनेवालो को ही छोड दें, तो इसीसे भगवान् राजी हो जाते हैं और हमारा बडा अहसान मानते हैं ! इन वस्तुओ को क्या कोई अपने साथ रख सकता है ? तो छूटनेवालो को छोडने से ही भगवान् राजी हो जायँ, इतना सस्ता है कोई सौदा ?

कितना ही धन कमा लो, कितना ही भोग भोगो, कैसा ही शरीर प्राप्त कर लो, सब-का-सब छूटने वाला है। इसमे कोई शका है क्या ? फिर इनके लिये उद्योग करते हैं और इनके मिलने पर बडे राजी होते हैं, कितनी मूर्खता है !

परमात्मा से हम अपनी तरफ से विमुख हुए हैं, इसीलिये वे नही मिल रहे हैं।

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं ।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥
(मानस ५/४३/१)

आप केवल भगवान् को अपना मान लें कि भगवान् ही हमारे हैं, और ये वस्तुएँ हमारी नही हैं। इतनी ही तो बात है ! कठिन नही है। जबतक आप पक्का विचार नही करते, तब तक बडा कठिन है। पक्का विचार करने पर कोई कठिन नही। स्वीकार कर ले कि दु ख, सन्ताप, जलन, अपमान, निन्दा, रोग, मृत्यु कुछ भी आ जाय, हम तो भगवान् की तरफ ही चलेंगे। फिर हमे कोई नहीं हटा सकता।

भोग और सग्रह की इच्छा के ऊपर ही सब नरक, और चौरासी लाख योनियां अवलम्बित हैं। सम्पूर्ण दु ख सन्ताप, पाप आदि इसी से होते हैं। फिर इनकी प्राप्ति मे अपनी बहादुरी

मानना, उन्नति मानना कितनी बडी भूल है! सोचते हैं कि इतना धन मिल गया, तो हमारा उद्योग सफल हो गया। अरे, सफल नहीं महान् विफल हो गया! एक पल में ही सब छूट जायगा। जो लखपति और करोडपति हैं, वे सुखी नही हैं, पर जो भगवान् में लगे हैं, वे सुखी हैं, मौज-आनन्द में हैं।

जितना भोग और ऐश्वर्य छूटेगा, उतनी ही शान्ति होगी। एक श्लोक का भाव है कि आशारूपी रस्सी से बँधा हुआ पुरुष तो भागता फिरता है, और खुला हुआ पुरुष मौज से बैठता है! 'आशया ये कृतादासास्ते दासा सर्वदेहिनाम्।' जो आशा के दास हैं कि धन मिले, मान मिले, अमुक वस्तु मिले, वे सम्पूर्ण शरीरधारियो के दास हैं, और 'आशा येन कृता दासी तस्य दासायते जगत्॥' जिसने आशा को दास बना लिया, उसके सभी दास हो जाते है। तो मनुष्य एक आशा का दास हो जायगा, तो दुनियामात्र उसपर सवार हो जायगी। वह वृक्ष के पास जायगा, तो उसमे भी 'यह ले लें, वह ले ले' की भावना रहेगी। मनुष्य होकर भी अक्ल कहाँ गयी? कब अक्ल आयगी? ये शरीर इन्द्रियाँ, भोग, जवानी आदि कितने दिनो तक रहेंगे? फिर भी रात-दिन जानेवाले पदार्थों की आशा में ही लगे रहते हैं और नित्यप्राप्त परमात्मा की तरफ ध्यान ही नहीं देते!

परमात्मा नित्यप्राप्त है और ससार अप्राप्त है। नित्यप्राप्त की प्राप्ति यदि कठिन है, तो क्या अप्राप्त की प्राप्ति सुगम है? परमात्मा कभी अप्राप्त नहीं होते। हम ही उनसे विमुख हुए हैं, वे विमुख नहीं हुए। परमात्मा से विमुख होने से वे दूर दीखते हैं, और ससार के सम्मुख होने से वह नजदीक दीखता है। वास्तव में ससार कभी नजदीक आया ही नहीं और भगवान् कभी दूर हुए

ही नही। भगवान् की ताकत नही दूर होने की और ससार की ताकत नही पास आने की और ठहरने की। कितनी विलक्षण बात है ! भगवान् की तरफ चलते ही भगवान् राजी हो जाते हैं, खुश हो जाते हैं, जैसे बालक माँ माँ करता गोद मे आ जाय, तो माँ प्रसन्न हो जाती हे। वह बालक को खिलाती-पिलाती है, कपड पहनाती है, सब कुछ वही करती है, और बालक के गोदी मे आने-पर राजी हो जाती हे। अब इसमे बालक का क्या लगा ? ऐसे ही हम भगवान् के सम्मुख हो जायँ, तो वे राजी हो जायँ—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविण त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव देव ॥

प्रवचन :
१-६-८१ (२०)

कामनाओ के त्याग से शान्ति

भगवत्प्राप्ति के मार्ग मे ससार के भोग और सग्रह की खास बाधा है। रुपयो के सग्रह को इतना अधिक आदर दे दिया कि चाहे जीवन बिगड जाय, नरको मे जाना पडे, चौरासी लाख योनियो मे जाना पडे, अपमान, निन्दा, बेइज्जती हो जाय, पर रुपये इकट्ठे करने ही हैं यह बहुत बडी बीमारी है। दूसरा जो भोग भोगना, सुख भोगना है, यह खास आफत है। इसके कारण मनुष्य अपने अनुभव का आदर नही करता, क्योकि आदर की जगह रुपयो और सुखभोग ने ले ली। अब भले ही कितनी बाते सीख जाओ, अनुभव नही होगा। सीख करके आप पण्डित बन सकते हो,

बड़ा भारी व्याख्यान दे सकते हो, लेखक बन सकते हो, बड़ी सुन्दर सुन्दर पुस्तकें लिख सकते हो, परन्तु जो महान् शांति है वह नहीं पा सकते, उसका अनुभव नहीं हो सकता। सीखना और अनुभव करना बिल्कुल अलग-अलग चीज है। रात-दिन का फर्क है दोनों में। अनुभव तब होगा, जब भोग और संग्रह की कामना नहीं रहेगी। इतना रुपया और हो जाय, इतना और हो जाय ऐसी कामना करते हैं, पर साथ एक कौड़ी भी नहीं चलेगी। एकदम खाली जाना पड़ेगा। शरीर भी यहीं पड़ा रहेगा। यह पहले भी अपना नहीं था और बाद में भी अपना नहीं रहेगा-एकदम प्रत्यक्ष बात है। परन्तु कहने-सुनने से यह बात समझ में नहीं आती। जब व्याकुलता जाग्रत् होगी, भीतर में भोग और संग्रह से उपरति होकर जलन पैदा होगी, तब यह बात समझ में आएगी। जबतक रुपयों और भोगों से सुख लेते हैं, तबतक यह बात अक्ल में नहीं आयगी।

गीता में स्थितप्रज्ञ पुरुष के लक्षणों के आरम्भ में और अन्त में—दोनों जगह सम्पूर्ण कामनाओं के त्याग की बात आयी है। उपक्रम में भगवान् ने कहा—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्। (गीता २/५५)

और उपसंहार में भी वही बात कही—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः। (गीता २/७१)

तो भोग और संग्रह की कामना ही मुख्य है, और इसके आनेपर तो सैकड़ों-हजारों कामनाएं आ जाती हैं। ये कामनाएं मन का स्वरूप नहीं है बल्कि मन में आया करती हैं-'मनोगतान्'। इन सब कामनाओं का त्याग कर दें। यदि आज मृत्यु आ जाय, तो 'हमें तो नहीं मरना, जी जावें तो अच्छा' ऐसी कामना पैदा

न हो। शरीर बहुत-ही प्यारा लगता है, पर यह जानेवाला है। जो जानेवाला है, उसकी मोह ममता पहले से ही छोड दें। यदि पहले से नही छोडी, तो बाद मे बडी दुर्दशा होगी। भोगो मे रुपयो मे, पदार्थों मे आसक्ति रह गयी, उनमे मन रह गया, तो बडी दुर्दशा होगी। सॉप, अजगर बनना पडेगा, भूत, प्रेत, पिशाच आदि न जाने क्या-क्या बनना पड़ेगा ! एक सन्त की बात हमने सुनी। विरक्त, त्यागी सन्त थे। पैसा नही छूते थे और एकान्त भजन मे रहते थे। एक भाई उनकी बहुत सेवा किया करता। रोजाना भोजन आदि पहुँचाया करता। एक बार किसी जरूरी काम से उसे दूसरे शहर जाना पडा। तो उसने सत से कहा कि महाराज ! मैं तो जा रहा हूँ। तो सन्त बोले कि भैया ! हमारी सेवा तुम्हारे अधीन नही है, तुम जाओ। उसने कहा कि महाराज! पीछे न जाने कोई सेवा करे न करे ? मैं बीस रुपये सामने गाड देता हूँ, काम पड़े तो आप किसी से कह देना। बाबाजी ना-ना करते रहे, पर वह तो बीस रुपये गाड ही गया। अब वह तो चला गया। पीछे बाबाजी बीमार पडे और मर गए। मरकर भूत हो गए ! अब वहाँ रात्रि मे कोई रहे तो उसे खडाऊँ की खट-खट-खट आवाज सुनायी दे। लोग सोचे कि बात क्या है ? जब वह भाई आया तो उसे कहा गया कि वहाँ रात को खडाऊँ की आवाज आती है, कोई भूत प्रेत है, पर किसी को दुःख नही देता। वह रात्रि मे वहाँ रहा। उसे बडा दुःख हुआ। उसने प्रार्थना की तो बाबाजी दीखे और बोले कि मरते वक्त तेरे रुपयो की तरफ मन चला गया था। अब इन्हे तू कही लगा दे तो मैं छुटकारा पा जाऊँ! तो बाबाजी ने रुपयो को काम मे भी नही लिया पर 'मेरे लिए रुपये पडे हैं' इस भाव से ही यह दशा हो गयी। अब वे रुपये वहाँ

मे निकालकर धार्मिक काम मे लगाए गए, तब कहीं जाकर बाबाजी की गति हुई।

वृन्दावन की एक घटना हमने सुनी थी। एक गली मे एक भिखारी पैसे मांगा करता था। उसके पास एक रुपये से कुछ कम पैसे हो गए थे। वह मर गया। जहाँ उसके चिथडे पड़े थे, वहाँ लोगो ने एक छोटा-सा साँप बैठा हुआ देखा। उसे कई बार दूर फेंका गया, पर वह फिर उन्ही चिथडो मे आकर बैठ जाता। जब नही हटा तो सोचा बात क्या है? साँप को दूर फेंककर चिथडा मे देखा, तो उनमे से कुछ पैसे मिले। वे पैसे किसी काम मे लगा दिए। तो फिर वह साप देखने मे नही आया।

यह जो भीतर वासना रहती है, वह बडी भयकर है। वासना तब रहती है, जब वस्तुओ मे प्रियता होती है। जहाँ वस्तुओ की प्रियता या आकर्षण रहता है, वही भगवान् की प्रियता जाग्रत् होनी चाहिए। आप बाहर से भले ही कितने बढिया-बढिया काम करें, पर भीतर ससार की जो प्रियता या आकर्षण है, वह खतरनाक है। इसलिए भगवान् ने सम्पूर्ण कामनाओ का त्याग करने की बात कही-'विहाय कामान्य सर्वान्पु मारचरति नि स्पृह'।' नि'स्पृह का अर्थ है निर्वाह कैसे होगा ? मेरा जीवन कैसे चलेगा? इसप्रकार मन मे परवाह नही रखे। जीवन तो चलेगा ही। जिन कर्मों से शरीर मिला है, उन कर्मों से उसका निर्वाह भी होगा। प्रारब्ध मे न हो तो धनी व्यक्ति भी ज्यादा भोग नहीं भोग सकगा, और प्रारब्ध मे हो तो साधारण व्यक्ति को भी भोग मिल जायँगे। तो नहीं मिलनेवाला नही मिलेगा और मिलनेवाला मिलेगा ही। मन मे जो प्रियता है, यह बाधक है। वह नही होगी, तो भी रुपये, वस्तु, आदर, महिमा आदि मिलेगी। निर्वाह की चीज तो अपने-

आप मिलेगी, आप जो आशा करते है, यही गलती होती है ।

भीतर मे भोग और सग्रह की जो प्रियता है, जिससे वे अच्छे लगते हैं और उन्हे छोडना नही चाहते, उसीका त्याग होना चाहिए। त्याग नाम इसी का है। बाहर का त्याग भी अच्छा है, सहायक है। पर वास्तव मे त्याग प्रियता का है। वह प्रियता ही जन्म-मरण देनेवाली और महान् नरको मे डालनेवाली चीज है।

भगवान् ने चार चीजो का त्याग बतलाया—जो प्राप्त नही है, उसकी कामना, जो प्राप्त है उसकी ममता, निर्वाह की स्पृहा, और मै ऐसा हूँ —यह अहता, जिसके कारण अपने मे दूसरो की अपेक्षा विशेषता दीखती है ।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ।। (गीता २/७१)

अर्थात् जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओ को त्यागकर ममता-रहित, अहकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्ति को प्राप्त होता है ।

तो कामना, स्पृहा, ममता और अहकार—इन चारो का सर्वथा त्याग हो जाय, तो अभी शान्ति मिल जाय। ये चारो महान् अशान्ति पैदा करनेवाली चीजे हैं। इनको तो त्यागना नही चाहते और शान्ति पाना चाहते हैं, ऐसा कभी होगा नहीं।

सो कामना के त्याग से ही कर्मयोग सिद्ध होगा। कर्मयोग के द्वारा सिद्ध हुए पुरुष का नाम स्थितिप्रज्ञ है। उसके लक्षण बतलाते समय आरम्भ और अन्त मे कामनाओ के त्याग की बात कही। कामना, स्पृहा, ममता और अहकार–इनका त्याग होनेपर फिर एक ब्रह्म मे स्थिति रहेगी—'एषा ब्राह्मी स्थिति' और फिर

निर्वाण ब्रह्म की प्राप्ति हो जाएगी– 'ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति' (गीता २/७२)।

अन्त में न जाने कहाँ वासना रह जाय ? और जगह न रहे, तो शरीर में तो रह सकती है। इस वास्ते मनुष्य जितना सावधान रहे, उतना अच्छा है। शरीर तो मूल चीज है इसलिए इसमें अहता-ममता नही रहनी चाहिए। इसमें अहता-ममता होने से ही इसके निर्वाह की इच्छा होती है। पर इच्छा से तो शरीर रहेगा नही। जीने की इच्छा करते करते ही लोग मरते हैं। इच्छा करने मे फायदा तो कोई-सा नही है और नुकसान कोई-सा भी बाकी नही है। मैंने खूब सोचा है, विचार किया है।

प्रश्न कामना छोडने के लिए क्या करे ?

उत्तर-अगर आपके मन मे करने की है, तो यो करो— नाम-जप करो और भीतर से प्रार्थना करो कि हे नाथ ! हे प्रभु! मेरे से कामना, आसक्ति छूटती नही ! इसप्रकार हरदम भीतर स पुकारते ही रहो, लगन से। वे प्रभु परमदयालु हैं, वे कृपा करेंगे। यह उपाय आप काम मे लाकर देखें, उपाय तो कई हैं, पर जोरदार लगन होनी चाहिए। ●

प्रवचन :

२-६-८१ (२१)

मैं शरीर नहीं हूँ

अपने को शरीर मानने से ही जन्म-मरण, दु ख, सताप, चिन्ता आदि सभी आफतें आती हैं। शरीर अपना स्वरूप है नहीं, यह प्रत्यक्ष है। बचपन मे जैसा शरीर था, वैसा अब नहीं है, अब इतना बदल गया कि पहचान नहीं होती, परन्तु 'मैं वही हूँ'—

इसमे सन्देह की कही गु जाइश भी नही है। तो कम-से-कम यह विचार करे कि शरीर मैं नही हूँ। मैं न स्थूल शरीर हूँ, न कारण शरीर हूँ और न सूक्ष्म शरीर हूँ। स्थूल शरीर की स्थूल ससार के साथ एकता है—

छिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित अति अधम सरीरा ॥ (मानस ४/१०/२)

अब वह कौन-सा शरीर है, जो इन पाँचो से रहित है ? ससार के साथ शरीर की विल्कुल अभिनता है। ससार 'यह' नाम से कहा जाता है, फिर उसका एक छोटा-सा अश 'मैं' कैसे हो गया? ऐसे ही सूक्ष्मशरीर की सूक्ष्मससार के साथ एकता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन, बुद्धि–ये सब सूक्ष्म ससार के ही अश हैं। यह जो वायु चलता है, इसीके साथ प्राणो की एकता है। ऐसे ही सब इन्द्रियो, मन, प्राण आदि की सूक्ष्म ससार के साथ एकता है। सूक्ष्मशरीर से अगाडी कुछ पता नही लगता, ऐसा जो अज्ञान है, वह कारणशरीर है। इसमे प्रकृति (स्वभाव) होती है। प्रकृति सबकी भिन्न-भिन्न होनेपर भी धातु एक ही है। जैसे शरीर भिन्न-भिन्न होनेपर भी धातु (पञ्चमहाभूत) एक है, ऐसे प्रकृति, स्वभाव एक है। सुपुप्ति मे सभी एक हो जाते हैं, भिन्नता रहती ही नही। तो इसप्रकार कारणशरीर सब एक ही हुए,। अब इसमे यह मैं हूँ और यह मैं नही हूँ, यह मेरा है और यह मेरा नही है-यह बात सच्ची नही। यह व्यवहार के लिये काम की है। अपने को शरीर मानना गलती है। इस गलती को हम आज मिटा दें, तो महान् शान्ति मिल जाय, बडा भारी आनन्द मिल जाय। पर सुनकर सीख लेने से यह गलती नही मिटती। यह शरीर इदता से दीखना चाहिये–'इद शरीरम्' (गीता १३/१)। जैसे यह छप्पर अलग दीखता है, ऐसे शरीर का भी अनुभव होना

चाहिये कि यह अलग है, मैं इसे जाननेवाला हूँ। इसे सीखना नहीं है। सीखना या मानना ज्ञान नहीं है। दृढ मान्यता भी ज्ञान जैसी प्रतीत होती है, पर मान्यता मान्यता ही होती है, बोध नहीं। उसका साफ-साफ बोध होना चाहिये। परिवर्तनशील वस्तु मेरा स्वरूप नहीं है-ऐसा अनुभव हो जाय, तो तत्त्वज्ञान हो गया, मुक्ति हो गयी, परमात्मतत्त्व की प्राप्ति हो गयी, स्वरूप की प्राप्ति हो गयी। और वह नित्यप्राप्त की प्राप्ति है क्योंकि अपना स्वरूप अप्राप्त हुआ ही कब ? और जो प्रतिक्षण बदलता है, वह प्राप्त कैसा ? वह कभी किसी को प्राप्त हुआ ही नहीं। प्राप्त तो स्वरूप ही है। परन्तु अप्राप्त को प्राप्त मानने से जो प्राप्त है, वह अप्राप्त जैसा हो गया। जब तक अप्राप्त को अप्राप्त नहीं मानेंगे। तबतक प्राप्त की प्राप्ति नहीं दीखेगी।

सुनकर सीख लेने और मान लेने का नाम ज्ञान नहीं है। ज्ञान ऐसी चीज नहीं है। ज्ञान तो एकदम, उसी क्षण होता है। उसमे अभ्यास नहीं है। अभ्यास करना उपासना है। उपासना उपासना ही है, बोध नहीं। शरीर मैं हूँ-ऐसा दीखनेपर बेचैनी हो जाय, तो बोध हो जायगा। जैसे नीद मे पड़े हुए आदमी को सुई चुभाई जाय, तंग किया जाय, तो चट नीद खुल जाती है। ऐसे ही अपने को शरीर मानने का दुःख, जलन पैदा हो जाय कि क्या करूँ? कैसे करूँ? यह अध्यास कैसे मिटे ? तो फिर यह मिट जायगा। जो चीज मिटती है, वह होती नहीं और जो चीज होती है, वह मिटती नहीं-'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।' (गीता २/१६)। शरीर में मैं-पन और मेरा-पन मिटता है, तो मूल मे है नहीं-यह पक्की बात है।

सबसे पहले साधक को दृढता के साथ यह मानना चाहिये कि 'शरीर मैं हूँ और यह मेरा है' यह बिल्कुल झूठी बात है। हमारी समझ में नहीं आये, बोध नहीं हो, तो कोई बात नहीं। पर शरीर

'मैं' और 'मेरा नही है, नही है, नही है–ऐसा पक्का विचार किया जाय, जोर लगाकर। जोर लगानेपर अनुभव नही होगा, तव वह व्याकुलता, बेचैनी पैदा हो जायगी, जिससे चट वोध हो जायगा।

शरीर मैं नही हूँ—इस वात मे वुद्धि भले ही मत ठहरे, आप ठहर जाओ! बुद्धि ठहरना या नही ठहरना कोई वडी वात नही है। यह मैं नही हूँ—यह खास वात है। 'अहं ब्रह्मास्मि' 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह इतना जल्दी लाभदायक नही है, जितना 'यह मैं नही हूँ' यह लाभदायक है। दोनो तरह की उपासनाएँ है, परन्तु 'यह मैं नही हूँ' इससे चट वोध होगा। लेकिन खूब विचार करके पहले यह तो निर्णय कर लो कि शरीर 'मैं' और 'मेरा' कभी नही हो सकता। ऐसा पक्का, जोरदार विचार करनेपर अनुभव नही होने से दु ख होगा। उस दु ख मे एकदम शरीर से सम्बन्ध-विच्छेद करने की ताकत है। वह दु ख जितना तीव्र होगा, उतना ही जल्दी काम हो जायगा।

'मैं क्या हूँ?' ऐसा विचार मत करो। इसमे मन-वुद्धि साथ मे रहेगे। जड की सहायता के विना 'मैं क्या हूँ?' ऐसा प्रश्न उठ ही नही सकता, और समाधान भी जड को साथ लिये विना कर ही नही सकते। इस वास्ते जड की सहायता से जड की निवृत्ति एव चिन्मयता की प्राप्ति नही होती, नही होती, नही होती, 'मैं चिन्मय हूँ' इसमे वुद्धि की सहायता है, और अहता भी साथ मे रहेगी ही। पर 'यह जड मैं नही हूँ, नही हूँ' नही हूँ तो इसमे जडता पर 'नही' का जोर लगेगा। चिन्तन भी जडता का है और निषेध भी जडता का है। तो जैसे झाड़ और कूडा-करकट एक धातु के हैं, और झाड़ से कूडा-करकट साफ करके झाड़ भी वाहर फेंक दिया जाय, तो साफ मकान पीछे रह जायगा, उसके लिये उद्योग नही करना पडेगा, ऐसे ही जडता के द्वारा जडता की निवृत्ति करनेपर ब्रह्म पीछे रह जाता है, उस (ब्रह्म) के लिये उद्योग नही करना

पड़ता । बिना प्रकृति की सहायता लिये उद्योग होता ही नहीं ।

'मैं यह नहीं हूँ'–इसमें 'मैं' और 'यह' एक जाति के है। यह जो 'मैं' है, यह दो तरफ जाता है । एक 'मैं' जड़ता की तरफ जाता है और एक 'मैं' चेतनता की तरफ जाता है। तो चेतनता की तरफ 'मैं' मानने से (कि मैं चिन्मय हूँ') जड़ता का 'मैं' मिटेगा नही, और जड़ता की तरफ 'मैं' मानने से (कि मैं यह नहीं हूँ") स्वरूप स्वत रहेगा । इसलिये साधक के लिये 'मैं यह हूँ' की अपेक्षा 'मैं यह नहीं हूँ' बहुत ज्यादा उपयोगी है। मैंने दोनों तरह की बातें पढ़ी हैं और उनपर गहरा विचार किया है । इसलिये मैं अपनी धारणा कहता हूँ। आपको नहीं जंचे तो आप जैसा चाहे करें । पर निषेधात्मक साधन से स्वरूप में स्थिति जितनी जल्दी होती है, उतनी जल्दी विध्यात्मक साधन से नहीं होती । ऐसे ही दुर्गुण-दुराचारों का त्याग किया जाय, तो सद् गुण सदाचार जल्दी आयेंगे । जैसे 'मैं सत्य बोलूगा' इस बात में जितना अभिमान रहेगा, उतना 'मैं झूठ नहीं बोलूगा' इसमें अभिमान नहीं रहेगा। झूठ नहीं बोलकर कौन-सा बड़ा भारी काम कर लिया, और सत्य बोलकर बड़ा भारी काम कर लिया–ऐसा भाव रहेगा । इसलिये सत्य बोलने का अभिमान जल्दी टूटेगा नहीं ।

तो बुद्धि साथ में रहनेपर जड़ता से सम्बन्ध-विच्छेद हो ही नहीं सकता, क्योंकि जिससे सम्बन्ध-विच्छेद करना है, उस (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि) को ही साथ ले लिया ! इस तरफ विचार न करने से ही बहुत वर्ष लग जाते हैं। साधक सोचता यहीं को यहीं रहता है, चिन्तन करता रहता है, और स्थिति वहीं-की-वहीं रहती है। जैसे कोल्हू का बैल उम्रभर चलता है, पर वहीं-का वहीं रहता है, वैसी दशा रहती है साधक की ! इसलिये इस विषय पर खूब गहरा विचार करने की आवश्यकता है। ★